नियमसार

अनुक्रमणिका

001-a) टीकाकार द्वारा मंगलाचरण

जीव-अधिकार

001) मंगलाचरण
002) मार्ग और मार्ग-फल
002) स्वभाव रत्नत्रय
004) रत्नत्रय के भेद और लक्षण
004) व्यवहार सम्यक्त्व
006) १८ दोषों का स्वरूप
006) तीर्थंकर का स्वरूप
008) आगम का स्वरूप
008) द्रव्यों के नाम
010) उपयोग लक्षण
010) ज्ञान के भेद
013) दर्शनोपयोग
013) दर्शनोपयोग के भेद
015) स्वभाव-विभाव पर्याय
015) चार-गति का स्वरूप
018) आत्मा का कर्तत्व-भोक्तृत्व
018) दोनों नयों की उपयोगिता

अजीव-अधिकार

020) पुद्गल-द्रव्य के भेद
020) पुद्गल के भेद
025) कारण और कार्य-परमाणु द्रव्य
025) परमाणु का विशेष कथन
027) स्वभाव-पुद्गल
027) पुद्गल-पर्याय
029) पुद्गल-द्रव्य - उपसंहार
029) धर्म-अधर्म-आकाश
031) व्यवहारकाल और उसके भेद
031) मुख्य काल का स्वरूप
033) अमूर्त अचेतन द्रव्यों की पर्याय
033) पंचास्तिकाय
035-036) द्रव्यों के प्रदेश
035-036) उपसंहार

शुद्ध-भाव-अधिकार

038) हेय और उपादेय तत्त्व
038) निर्विकल्प तत्त्व
040) बन्ध-उदय स्थान जीव नहीं
040) चार विभाव-स्वभावों और पंचम-भाव
042) शुद्ध-जीव को विकार नहीं
042) शुद्ध-आत्मा को विभाव का अभाव
044) शुद्ध जीव का स्वरूप
044) कारण-परमात्मा का स्वरूप
047) संसारी और मुक्त जीवों में अन्तर नहीं

047) कार्य तथा कारण-समयसार में अन्तर नहीं
049) निश्चय और व्यवहारनय की उपादेयता
049) हेय-उपादेय का स्वरूप
051-055) रत्नत्रय का स्वरूप

व्यवहार-चारित्र

056) अहिंसाव्रत
057) सत्यव्रत
057) अचौर्य-व्रत
059) ब्रह्मचर्य-व्रत
059) परिग्रह-त्याग व्रत
061) ईर्या-समिति
061) भाषा-समिति
063) एषणा-समिति
063) आदाननिक्षेपण समिति
065) प्रतिष्ठापन समिति
065) व्यवहार मनोगुप्ति
067) वचन-गुप्ति
067) काय-गुप्ति
069) निश्चय मनोगुप्ति और वचनगुप्ति
069) निश्चय काय-गुप्ति
071) अर्हत् परमेश्वर
071) सिद्ध-परमेष्ठि
073) आचार्य
073) उपाध्याय
075) साधुओं का स्वरूप
075) व्यवहार-चारित्र-अधिकार का उपसंहार

परमार्थ प्रतिक्रमण

077-081) पंचरत्न का स्वरूप
077-081) भेदविज्ञान द्वारा निश्चय-चारित्र
083) वचनगुप्त रागादि-रहित ही प्रतिक्रमण
083) विराधना-रहित आत्माराधक ही प्रतिक्रमण
085) अनाचरण-रहित आचारी ही प्रतिक्रमण
085) उन्मार्ग-त्यागी जिनमार्गी ही प्रतिक्रमण
087) निःशल्यभाव ही प्रतिक्रमण
087) त्रिगुप्तिगुप्त ही प्रतिक्रमण
089) धर्म-शुक्ल ध्यानी ही प्रतिक्रमण
089) अनासन्न-भव्य जीव के पूर्वापर परिणाम
091) निश्चय-रत्नत्रय धारक ही प्रतिक्रमण
091) निश्चय-उत्तमार्थ प्रतिक्रमण
093) ध्यान एक उपादेय
093) व्यवहार प्रतिक्रमण की सफलता

निश्चय प्रत्याख्यान

095) निश्चय प्रत्याख्यान का स्वरूप
095) अनंतचतुष्टयात्मक निज-आत्मा के ध्यान का उपदेश
097) ज्ञानी को शिक्षा
097) बन्ध-रहित आत्मा को भाना चाहिये
099) सकल विभाव के त्याग की विधि
099) सर्वत्र आत्मा उपादेय है
101) संसारावस्था में और मुक्ति में जीव निःसहाय है
101) एकत्व भावनारूप से परिणमित सम्यग्ज्ञानी के लक्षण
103) आत्मगत दोषों से मुक्त होने के उपाय

103) अंतर्मुख परम-तपोधन की भाव-शुद्धि
105) निश्चय-प्रत्याख्यान के योग्य जीव का स्वरूप
105) निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकार का उपसंहार

परम आलोचना

107) निश्चय-आलोचना का स्वरूप
107) आलोचना के स्वरूप के भेद
109) आलोचन
109) आलुंछन
111) अविकृतिकरण
111) भावशुद्धि

शुद्धनिश्चय-प्रायश्चित्त

113-114) निश्चय-प्रायश्चित्त का स्वरूप
113-114) चार कषायों पर विजय प्राप्त करने का उपाय
116) शुद्ध ज्ञान के स्वीकारवाले को प्रायश्चित्त है
116) परम तपश्चरण में लीन परम जिनयोगीश्वरों को निश्चय-प्रायश्चित्त
118) कारण परमात्म तत्त्व में सदा अन्तर्मुख रहकर जो प्रतपन वह तप प्रायश्चित्त
118) निश्चय धर्मध्यान ही सर्व भावों का अभाव करने में समर्थ
120) शुद्धनिश्चय-नियम का स्वरूप
120) निश्चय-कायोत्सर्ग का स्वरूप

परम-समाधि

122) परम समाधि का स्वरूप
122) समाधि का लक्षण
124) समता-रहित श्रमण को कुछ भी कार्यकारी नहीं
124) किस मुनि को सामायिक व्रत स्थायी है?
126) परम मुमुक्षु का स्वरूप
126) आत्मा ही उपादेय है
128) रागद्वेष के अभाव से अपरिस्पंदरूपता
128) आर्त और रौद्र ध्यान के परित्याग द्वारा सामायिक-व्रत
130) सुकृत-दुष्कृतरूप कर्म के संन्यास की विधि
130) नौ नोकषाय की विजय
133) परम-समाधि अधिकार का उपसंहार

परम-भक्ति

134) रत्नत्रय का स्वरूप
135) सिद्ध-भक्ति का स्वरूप
135) निज-परमात्मा की भक्ति
137) निश्चय-योग-भक्ति
137) निश्चय - योग भक्ति का स्वरूप
139) विपरीत अभिनिवेश रहित आत्मभाव ही निश्चय - परमयोग
139) भक्ति अधिकार का उपसंहार

निश्चय परमावश्यक

141) निरन्तर स्ववश को निश्चय - आवश्यक - कर्म
141) अवश परम जिनयोगीश्वर को परम आवश्यक कर्म अवश्य
143) भेदोपचार - रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को अवशपना नहीं
143) अन्यवश ऐसे अशुद्ध अन्तरात्म जीव का लक्षण
145) अन्यवश का स्वरूप
145) साक्षात् स्ववश परमजिनयोगीश्वर का स्वरूप
147) शुद्धनिश्चय - आवश्यक की प्राप्ति का जो उपाय
147) शुद्धोपयोग सम्मुख जीव को शिक्षा
149) आवश्यक कर्म के अभाव में तपोधन बहिरात्मा
149) बाह्य तथा अन्तर जल्प का खण्डन
151) स्वात्माश्रित धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही उपादेय

151) परम वीतराग चारित्र में स्थित परम तपोधन
153) समस्त वचन सम्बन्धी व्यापार का खण्डन
153) शुद्ध निश्चय धर्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमणादि ही करने योग्य
155) साक्षात् अन्तर्मुख परम जिनयोगी को शिक्षा
155) वचन-सम्बन्धी व्यापार की निवृत्ति के हेतु का कथन
157) दृष्टान्त द्वारा सहजतत्त्व की आराधना की विधि
157) परमावश्यक अधिकार का उपसंहार

शुद्धोपयोग अधिकार

159) समस्त कर्म के प्रलय के हेतुभूत शुद्धोपयोग का अधिकार
159) दृष्टान्त द्वारा केवलज्ञान और केवलदर्शन का युगपद् वर्तना
161) आत्मा के स्व-पर प्रकाशकपने सम्बन्धी विरोध-कथन
161) पूर्वपक्ष के सिद्धान्त सम्बन्धी कथन
163) एकान्त से आत्मा को पर-प्रकाशकपना का खण्डन
163) व्यवहारनय की सफलता
165) निश्चयनय से स्वरूप का कथन
165) शुद्धनिश्चयनय से पर-दर्शन का खण्डन
167) केवलज्ञान का स्वरूप
167) केवलदर्शन के अभाव में सर्वज्ञपना नहीं
169) व्यवहारनय की प्रगटता
169) 'जीव ज्ञान-स्वरूप है' ऐसा वितर्क से कथन
171) गुण-गुणी में भेद का अभाव होनेरूप स्वरूप का कथन
171) सर्वज्ञ वीतराग को वांछा का अभाव
173-174) वास्तव में ज्ञानी को बन्ध के अभाव
173-174) केवली को मन-रहितपना
176) शुद्ध जीव को स्वभावगति की प्राप्ति होने का उपाय
176) कारण-परमतत्त्व का स्वरूप
178) परमात्म तत्त्व निरुपाधि स्वरूप
178) परमतत्त्व में सांसारिक विकारसमूह का अभाव
180) परमतत्त्व का स्वरूप
180) कर्म-रहित तथा विकल्प रहित परमतत्त्व
182) सिद्ध के स्वभावगुण
182) सिद्धि और सिद्ध के एकत्व का प्रतिपादन
184) सिद्धक्षेत्र से ऊपर जीव-पुद्गलों के गमन का निषेध
184) नियम शब्द का तथा उसके फल का उपसंहार
186) भव्य को शिक्षा
186) उपसंहार

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!

श्रीमद्-भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य-देव-प्रणीत

श्री

नियमसार

मूल प्राकृत गाथा, पद्मप्रभमलधारिदेव कृत संस्कृत टीका के हिंदी अनुवाद सहित

आभार :

!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः

कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका

मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥

अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीनियमसार नामधेयं, अस्य मूलाग्रन्थकर्तार: श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तार: श्रीगणधरदेवा: प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचितं, श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥

(समस्त पापों का नाश करनेवाला, कल्याणों का बढ़ानेवाला, धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला, भव्यजीवों के मन को प्रतिबुद्ध-सचेत करनेवाला यह शास्त्र नियमसार नाम का है, मूल-ग्रन्थ के रचयिता सर्वज्ञ-देव हैं, उनके बाद ग्रन्थ को गूंथनेवाले गणधर-देव हैं, प्रति-गणधर देव हैं उनके वचनों के अनुसार लेकर आचार्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित यह ग्रन्थ है । सभी श्रोता पूर्ण सावधानी पूर्वक सुनें ।)

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं

प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

(बारह भावना)

जग है अनित्य ता में शरण न वस्तु कोय ।

तातें दुख रासी भववास को निहारिये ॥

एक चिद्‌चिन्ह सदा भिन्न पर द्रव्यनितें ।

अशुचि शरीर में न आपा बुद्धि धारिये ॥

रागादिक भाव करें कर्म को बढ़ावे तातें ।

संवर स्वरूप होय कर्मबंध टारिये ॥

तीन लोक मांहि जिन धर्म एक दुर्लभ है ।

तातें निज धर्म को न छिनहूँ विसारिये ॥

टीकाकार द्वारा मंगलाचरण

(मालिनी)

त्वयि सति परमात्मन्माद्रशान्मोहमुग्धान्
कथमतनुवशत्वान्बुद्धकेशान्यजेऽहम् ।
सुगतमगधरं वा वागधीशं शिवं वा
जितभवमभिवन्दे भासुरं श्रीजिनं वा ॥१॥

(अनुष्टुभ्)

वाचं वाचंयमीन्द्राणां वक्त्रवारिजवाहनाम् ।
वन्दे नयद्वयायत्तवाच्यसर्वस्वपद्धतिम् ॥२॥

(शालिनी)

सिद्धान्तोद्धश्रीधवं सिद्धसेनं
तर्काब्जार्कं भट्टपूर्वाकलंकम् ।
शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे
तद्विद्याढयं वीरनन्दिं व्रतीन्द्रम् ॥३॥

(अनुष्टुभ्)

अपवर्गाय भव्यानां शुद्धये स्वात्मनः पुनः ।
वक्ष्ये नियमसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥४॥

किंच -

(आर्या)

गुणधरगणधररचितं श्रुतधरसन्तानतस्तु सुव्यक्तम् ।
परमागमार्थसार्थं वक्तु ममुं के वयं मन्दाः ॥५॥

अपि च -

(अनुष्टुभ्)

अस्माकं मानसान्युच्चैः प्रेरितानि पुनः पुनः ।
परमागमसारस्य रुच्या मांसलयाऽधुना ॥६॥

(अनुष्टुभ्)

पंचास्तिकायषड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवार्थकाः ।
प्रोक्ताः सूत्रकृता पूर्वं प्रत्याख्यानादिसत्क्रियाः ॥७॥

अलमलमतिविस्तरेण । स्वस्ति साक्षादस्मै विवरणाय ।

अन्वयार्थ : हे परमात्मा ! तेरे होते हुए मैं अपने जैसे (संसारियों जैसे) मोहमुग्ध और कामवश बुद्ध को तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेश को क्यों पूजूँ ? जिसने भवों को जीता है उसकी मैं वन्दना करता हूँ - उसे प्रकाशमान ऐसे श्री जिन कहो, सुगत कहो, गिरिधर कहो, वागीश्वर कहो या शिव कहो ॥१॥

वाचंयमीन्द्रों का (जिनदेवों का) मुखकमल जिसका वाहन है और दो नयों के आश्रय से सर्वस्व कहने की जिसकी पद्धति है उस वाणी को (जिनभगवन्तों की स्याद्वादमुद्रित वाणी को) मैं वन्दन करता हूँ ॥२॥वाचंयमीन्द्र = मुनियों में प्रधान **अर्थ**ात् जिनदेव; मौन सेवन करनेवालों में श्रेष्ठ अर्थात् जिनदेव; वाक्-
संयमियों में इन्द्र समान अर्थात् जिनदेव (वाचंयमी = मुनि; मौन सेवन करनेवाले; वाणी के संयमी ।)

उत्तम सिद्धान्तरूपी श्री के पति सिद्धसेन मुनीन्द्र को, तर्क-कमल के सूर्य भट्ट अकलंक मुनीन्द्र को, ७शब्दसिन्धु के चन्द्र पूज्यपाद मुनीन्द्र

को और तद्विद्या से (सिद्धान्तादि तीनों के ज्ञान से) समृद्ध वीरनन्दि मुनीन्द्र को मैं वन्दन करता हूँ ॥३॥

भव्यों के मोक्ष के लिये तथा निज आत्मा की शुद्धि के हेतु नियमसार की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका मैं कहूँगा ॥४॥

पुनश्च -

गुण के धारण करनेवाले गणधरों से रचित और श्रुतधरों की परम्परा से अच्छी तरह व्यक्त किये गये इस परमागम के **अर्थ**-समूह का कथन करने में हम मंदबुद्धि सो कौन ? ॥५॥

तथापि -

आजकल हमारा मन परमागम के सार की पुष्ट रुचि से पुनः पुनःअत्यन्त प्रेरित हो रहा है । (उस रुचि से प्रेरित होने के कारण 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की यह टीका रची जा रही है ।) ॥६॥

सूत्रकार ने पहले पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व और नवपदार्थ तथा प्रत्याख्यानादि सत्क्रिया का कथन किया है (**अर्थ**ात् भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस शास्त्र में प्रथम पाँच अस्तिकाय आदि और पश्चात् प्रत्याख्यानादि सत्क्रिया का कथन किया है) ॥७॥

अति-विस्तार से बस होओ, बस होओ । साक्षात् यह विवरण जयवन्त वर्तो ।

मंगलाचरण

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं ॥1॥
वर नंत दर्शनज्ञानमय जिनवीर को नमकर कहूँ ।
यह नियमसार जु केवली श्रुतकेवली द्वारा कथित ॥१॥

अन्वयार्थ : [अनन्तवरज्ञानदर्शनस्वभावं] अनंत और उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन स्वाभावी [जिनं वीरं] महावीर भगवान को [नत्वा] नमन करके [केवलिश्रुतकेवलिभणितम्] केवली तथा श्रुतकेवलियों के द्वारा कहा हुआ [नियमसारं] नियमसार [वक्ष्यामि] कहूँगा ।

मार्ग और मार्ग-फल

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं
मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फलं होइ णिव्वाणं ॥2॥
जैन शासन में कहा है मार्ग एवं मार्गफल ।
है मार्ग मोक्ष उपाय एवं मोक्ष ही है मार्गफल ॥२॥

अन्वयार्थ : [मार्गः मार्गफलम्] मार्ग और मार्गफल [इति चद्विविधं] ऐसे दो प्रकार का [जिनशासने] जिनशासन में [समाख्यातम्] कथन किया गया है; [मार्गः मोक्षोपायः] मार्ग मोक्षोपाय है और [तस्य फलं] उसका फल [निर्वाणं भवति] निर्वाण है ।

स्वभाव रत्नत्रय

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं ॥3॥
सद् ज्ञान-दर्शन-चरण ही हैं 'नियम' जानो नियम से ।
विपरीत का परिहार होता सार इस शुभ वचन से ॥३॥

अन्वयार्थ : [सः नियमः] वह नियम [यत् कार्यं] करने योग्य [ज्ञानदर्शनचारित्रम्] ज्ञानदर्शनचारित्र की [नियमेन च] नियामकता से [विपरीतपरिहारार्थं भणितम् खलु] विपरीत का परिहार कहने के लिए वास्तव में [सारम् इति वचनम्] 'सार' ऐसा वचन है ।

रत्नत्रय के भेद और लक्षण

णियमं मोक्खउवाओ तस्स फलं हवदि परमणिव्वाणं ।
एदेसिं तिण्हं पि य पत्तेयपरूवणा होइ ॥4॥

है नियम मोक्ष उपाय उसका फल परम निर्वाण है ।
इन ज्ञान-दर्शन-चरण त्रय का भिन्न-भिन्न विधान है ॥४॥

अन्वयार्थ : [नियमः] (रत्नत्रयरूप) नियम [मोक्षोपायः] मोक्ष का उपाय है; [तस्य फलं] उसका फल [परमनिर्वाणं भवति] परम निर्वाण है; [अपि च] पुनश्च [एतेषां त्रयाणां] इन तीनों का [प्रत्येकप्ररूपणा] भिन्न-भिन्न निरूपण [भवति] होता है ।

व्यवहार सम्यक्त्व

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥5॥
इन आप्त-आगम-तत्त्व का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है ।
सम्पूर्ण दोषों से रहित अर सकल गुणमय आप्त है ॥५॥

अन्वयार्थ : [आप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानात्] आप्त, आगम और तत्त्वों की श्रद्धा से [सम्यक्त्वम् भवति] सम्यक्त्व होता है; [व्यपगताशेषदोषः सकलगुणात्मा] जिसके समस्त दोष दूर हो गए हैं ऐसे सकलगुणमय पुरुष [आप्तः भवेत्] आप्त होते हैं ।

१८ दोषों का स्वरूप

छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू ।
सेदं खेद मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो ॥6॥
भय भूख चिन्ता राग रुष रुज स्वेद जन्म जरा मरण ।
रति अरति निद्रा मोह विस्मय खेद मद तृष दोष हैं ॥६॥

अन्वयार्थ : [क्षुधा तृष्णा भयं रोषः] क्षुधा, पिपासा, भय, क्रोध, [रागः मोहः चिन्ता जरा] राग, मोह, चिन्ता, बुढापा, [रुजा मृत्युः स्वेदः] रोग, मृत्यु, पसीना, [खेदः मदः रतिः विस्मयनिद्रे] खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, [जन्मोद्वेगौ] जन्म और उद्वेग - (यह अठारह दोष हैं) ।

तीर्थंकर का स्वरूप

णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो ।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥7॥
सम्पूर्ण दोषोंसे रहित सर्वज्ञता से सहित जो ।
बस वे ही हैं परमातमा अन कोई परमातम नहीं ॥७॥

अन्वयार्थ : [निःशेषदोषरहितः] (ऐसे) निःशेष दोष से जो रहित है और [केवलज्ञानादिपरमविभवयुतः] केवलज्ञानादि परम वैभव से जो संयुक्त है, [सः] वह [परमात्मा उच्यते] परमात्मा कहलाता है; [तद्विपरीतः] उससे विपरीत [परमात्मा न] वह परमात्मा नहीं है ।

आगम का स्वरूप

तस्स मुहुग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं ।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥8॥
पूरवापर दोष विरहित वचन जिनवर देव के ।
आगम कहे है उन्हीं में तत्त्वारथों का विवेचन ॥८॥

अन्वयार्थ : [तस्य मुखोद्गतवचनं] उनके मुख से निकली हुई वाणी जो कि [पूर्वापरदोषविरहितं शुद्धम्] पूर्वापर दोष रहित (आगे पीछे विरोध रहित) और शुद्ध है, उसे [आगमम् इति परिकथितं] आगम कहा है; [तेन तु] और उसने [तत्त्वार्थाः] तत्त्वार्थ [कथिताः भवन्ति] कहे हैं ।

द्रव्यों के नाम

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं ।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥9॥
विविध गुणपर्याय से संयुक्त धर्माधर्म नभ ।
अर जीव पुद्गल काल को ही यहाँ तत्त्वारथ कहा ॥९॥
अन्वयार्थ : [जीवाः पुद्गलकायाः] जीव, पुद्गलकाय, [धर्माधर्मौ कालः च] धर्म, अधर्म, काल, और [आकाशम्] आकाश [तत्त्वार्थाः इति भणिताः] यह तत्त्वार्थ कहे हैं, जो कि [नानागुणपर्यायैः संयुक्ताः] विविध गुण-पर्यायों से संयुक्त हैं ।

उपयोग लक्षण

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विहावणाणं ति ॥10॥
जीव है उपयोगमय उपयोग दर्शन ज्ञान है ।
स्वभाव और विभाव इस विधि ज्ञान दोय प्रकार है ॥१०॥
अन्वयार्थ : [जीवः] जीव [उपयोगमयः] उपयोगमय है । [उपयोगः] उपयोग [ज्ञानदर्शनं भवति] ज्ञान और दर्शन है । [ज्ञानोपयोगः द्विविधः] ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है - [स्वभावज्ञानं] स्वभावज्ञान और [विभावज्ञानम् इति] विभावज्ञान ।

ज्ञान के भेद

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं ति ।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥11॥
सण्णाणं चउभेयं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं ।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव ॥12॥
इन्द्रियरहित, असहाय, केवल वह स्वभाविक ज्ञान है ।
दो विधि विभाविकज्ञान सम्यक् और मिथ्याज्ञान है ॥११॥
मति, श्रुत, अवधि, अरु मनःपर्यय चार सम्यग्ज्ञान है ।
अरु कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन भेद मिथ्याज्ञान है ॥१२॥
अन्वयार्थ : [केवलम्] जो (ज्ञान) केवल,[इन्द्रियरहितम्] इन्द्रिय-रहित और [असहायं] असहाय है, [तत्] वह [स्वभावज्ञानम् इति] स्वभावज्ञान है; [संज्ञानेतरविकल्पे] सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानरूप भेद किये जाने पर, [विभावज्ञानं] विभावज्ञान [द्विविधं भवेत्] दो प्रकार का है ।
[संज्ञानं] सम्यग्ज्ञान [चतुर्भेदं] चार भेदवाला है : [मतिश्रुतावधयः तथा एवमनःपर्ययम्] मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्यय; [अज्ञानं च एव] और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) [मत्यादेः भेदतः] मति आदि के भेद से [त्रिविकल्पम्] तीन भेदवाला है ।

दर्शनोपयोग

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो ।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥13॥
दर्शनपयोग स्वभाव और विभाव दो विधि जानिये ।
इन्द्रिय-रहित, असहाय, केवल दृग्स्वभाविक मानिये ॥१३॥
अन्वयार्थ : [तथा] उसीप्रकार [दर्शनोपयोगः] दर्शनोपयोग [स्वस्वभावेतरविकल्पतः] स्वभाव और विभाव के भेद से [द्विविधः] दो प्रकार का है । [केवलम्] जो केवल, [इन्द्रियरहितम्] इन्द्रिय-रहित और [असहायं] असहाय है, [तत्] वह [स्वभावः इति भणितः] स्वभाव दर्शनोपयोग कहा है ।

दर्शनोपयोग के भेद

चक्खु अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिदं विहावदिट्ठि त्ति ।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥14॥
चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शन ये विभाविक दर्श हैं ।
निरपेक्ष, स्वपरापेक्ष - ये पर्याय द्विविध विकल्प हैं ॥१४॥

अन्वयार्थ : [चक्षुरचक्षुरवधयः] चक्षु, अचक्षु और अवधि [तिस्रः अपि] यह तीनों [विभावदृष्टयः] विभाव-दर्शन [इति भणिताः] कहे गये हैं । [पर्यायः द्विविकल्पः] पर्याय द्विविध है : [स्वपरापेक्षः] स्वपरापेक्ष (स्व और परकी अपेक्षा युक्त) [च] और [निरपेक्षः] निरपेक्ष ।

स्वभाव-विभाव पर्याय

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विहावमिदि भणिदा ।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥15॥
तिर्यञ्च, नारकि, देव, नर पर्याय हैं वैभाविकी ।
पर्याय कर्मोपाधिवर्जित हैं कही स्वाभाविकी ॥१५॥

अन्वयार्थ : [नरनारकतिर्यक्सुराः पर्यायाः] मनुष्य, नारक,तिर्यञ्च और देवरूप पर्यायें [ते] वे [विभावाः] विभाव-पर्यायें [इति भणिताः] कही गई हैं; [कर्मोपाधिविवर्जितपर्यायाः] कर्मोपाधि रहित पर्यायें [ते] वे [स्वभावाः] स्वभाव-पर्यायें [इति भणिताः] कही गई हैं ।

चार-गति का स्वरूप

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा ।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेदेण ॥16॥
चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा ।
एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं ॥17॥
कर्मभूमिज भोगभूमिज मानवों के भेद हैं ।
अर सात नरकों की अपेक्षा सप्तविध नारक कहे ॥१६॥
चतुर्दश तिर्यंच एवं देव चार प्रकार के ।
इन सभी का विस्तार जानो अरे लोक विभाग से ॥१७॥

अन्वयार्थ : [मानुषाः द्विविकल्पाः] मनुष्यों के दो भेद हैं :[कर्ममहीभोगभूमिसंजाताः] कर्मभूमि में जन्मे हुए और भोगभूमि में जन्मे हुए; [पृथ्वीभेदेन] पृथ्वी के भेद से [नारकाः] नारक [सप्तविधाः ज्ञातव्याः] सात प्रकार के जानना; [तिर्यंञ्चः] तिर्यंचों के [चतुर्दशभेदाः] चौदह भेद [भणिताः] कहे हैं; [सुरगणाः] देव-समूहों के [चतुर्भेदाः] चार भेद हैं । [एतेषां विस्तारः] इनका विस्तार [लोकविभागेषु ज्ञातव्यः] लोक-विभाग में से जान लेना ।

आत्मा का कर्तत्व-भोक्तृत्व

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा ।
कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो ॥18॥
यह जीव करता-भोगता जड़कर्म का व्यवहार से ।
किन्तु कर्मजभाव का कर्ता कहा परमार्थ से ॥१८॥

अन्वयार्थ : [आत्मा] आत्मा [पुद्गलकर्मणः] पुद्गल-कर्म का [कर्ता भोक्ता] कर्ता-भोक्ता [व्यवहारात्] व्यवहार से [भवति] है [तु] और [आत्मा] आत्मा [कर्मजभावेन] कर्म-जनित भाव का [कर्ता भोक्ता] कर्ता-भोक्ता [निश्चयतः] (अशुद्ध) निश्चय से है ।

दोनों नयों की उपयोगिता

दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया ।
पज्जयणएण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहिं ॥19॥
है उक्त पर्ययशून्य आत्मा द्रव्यद्रष्टि से सदा ।
है उक्त पर्यायों सहित पर्यायनय से वह कहा ॥१९॥

अन्वयार्थ : [द्रव्यार्थिकेन] द्रव्यार्थिक नय से [जीवाः] जीव [पूर्वभणितपर्यायात्] पूर्व-कथित पर्याय से [व्यतिरिक्ताः] व्यतिरिक्त (भिन्न) है; [पर्यायनयेन] पर्यायनयसे [जीवाः] जीव [संयुक्ताः भवन्ति] उस पर्याय से संयुक्त है । [द्वाभ्याम्] इसप्रकार जीव दोनों नयों से संयुक्त है ।

पुद्गल-द्रव्य के भेद

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं ।
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो ॥20॥
द्विविध पुद्गल द्रव्य है स्कंध अणु के भेद से ।
द्विविध परमाणु कहे छह भेद हैं स्कंध के ॥२०॥

अन्वयार्थ : [अणुस्कन्धविकल्पेन तु] परमाणु और स्कन्ध ऐसे दो भेद से [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गल-द्रव्य [द्विविकल्पम् भवति] दो भेदवाला है; [स्कन्धाः] स्कन्ध [खलु] वास्तव में [षट्प्रकाराः] छह प्रकार के हैं [परमाणुः च एव द्विविकल्पः] और परमाणु के दो भेद हैं ।

पुद्गल के भेद

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥21॥
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा ।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेल्लमादीया ॥22॥
छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य ॥23॥
सुहुमा हवंति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंति ॥24॥
अतिथूल थूल रु थूल-सूक्षम सूक्ष्म-थूल रु सूक्ष्म अर ।
अतिसूक्ष्म ये छह भेद पृथ्वी आदि पुद्गल खंध के ॥२१॥
भूमि भूधर आदि को अति थूल-थूल कहा गया ।
घी तेल और जलादि को ही थूल खंध कहा गया ॥२२॥
धूप छाया आदि को ही थूल-सूक्षम जानिये ।
चतु इन्द्रिग्राही खंध सूक्षम-थूल हैं पहिचानिये ॥२३॥
करम वरगण योग्य जो स्कंध वे सब सूक्ष्म हैं ।
जो करम वरगण योग्य ना वे खंध ही अति सूक्ष्म हैं ॥२४॥

अन्वयार्थ : [अतिस्थूलस्थूलाः]अतिस्थूलस्थूल, [स्थूलाः] स्थूल, [स्थूलसूक्ष्माः च] स्थूलसूक्ष्म, [सूक्ष्मस्थूलाः च] सूक्ष्मस्थूल, [सूक्ष्माः] सूक्ष्म और [अतिसूक्ष्माः] अतिसूक्ष्म [इति] ऐसे [धरादयः षड्भेदाः भवन्ति] पृथ्वी आदि स्कन्धोंके छह भेद हैं ।

[भूपर्वताद्याः] भूमि, पर्वत आदि [अतिस्थूलस्थूलाः इति स्कन्धाः]अतिस्थूलस्थूल स्कन्ध [भणिताः] कहे गये हैं; [सप्पिर्जलतैलाद्याः] घी, जल, तेल आदि [स्थूलाः इति विज्ञेयाः] स्थूल स्कन्ध जानना ।

[छायातपाद्याः] छाया, आतप (धूप) आदि [स्थूलेतरस्कन्धाः इति] स्थूलसूक्ष्मस्कन्ध [विजानीहि] जान [च] और [चतुरक्षविषयाः स्कन्धाः] चार इन्द्रियोंके विषयभूत स्कन्धोंको [सूक्ष्मस्थूलाः इति] सूक्ष्मस्थूल [भणिताः] कहा गया है ।

[पुनः] और [कर्मवर्गणस्य प्रायोग्याः] कर्मवर्गणाके योग्य [स्कन्धाः] स्कन्ध[सूक्ष्माः भवन्ति] सूक्ष्म हैं; [तद्विपरीताः] उनसे विपरीत (कर्मवर्गणा के अयोग्य) [स्कन्धाः] स्कन्ध [अतिसूक्ष्माः इति] अतिसूक्ष्म [प्ररूपयन्ति] कहे जाते हैं ।

कारण और कार्य-परमाणु द्रव्य

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं ति तं णेयो ।
खंधाणं अवसाणं णादव्वो कज्जपरमाणू ॥25॥
जल आदि धातु चतुष्क हेतुक कारणाणु कहा है ।
अर खंध के अवसान को ही कारयाणु कहा है ॥२५॥

अन्वयार्थ : [पुनः] फिर [यः] जो [धातुचतुष्कस्य] (पृथ्वी,जल, तेज और वायु) चार धातुओं का [हेतुः] हेतु है, [सः] वह [कारणम् इतिज्ञेयः] कारण-परमाणु जानना; [स्कन्धानाम्] स्कन्धों के [अवसानः] अवसान को (पृथक् हुए अविभागी अन्तिम अंश को) [कार्यपरमाणुः] कार्य-परमाणु [ज्ञातव्यः] जानना ।

परमाणु का विशेष कथन

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदियग्गेज्झं ।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि ॥26॥
इन्द्रियों से ना ग्रहे अविभागि जो परमाणु है ।
वह स्वयं ही है आदि एवं स्वयं ही मध्यान्त है ॥२६॥

अन्वयार्थ : [आत्मादि] स्वयं ही जिसका आदि है, [आत्ममध्यम्] स्वयं ही जिसका मध्य है और [आत्मान्तम्] स्वयं ही जिसका अन्त है, [न एव इन्द्रियैः ग्राह्यम्] जो इन्द्रियों से ग्राह्य (जानने में आने योग्य) नहीं है और [यद् अविभागि] जो अविभागी है, [तत्] वह [परमाणुं द्रव्यं] परमाणु-द्रव्य [विजानीहि] जान ।

स्वभाव-पुद्गल

एयरसरूवगंधं दोफासं तं हवे सहावगुणं ।
विहावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्वपयडत्तं ॥27॥
स्वभाव गुणमय अणु में इक रूप रस गंध फरस दो ।
विभाव गुणमय खंध तो बस प्रगट इन्द्रिय ग्राह्य है ॥२७॥

अन्वयार्थ : [एकरसरूपगन्धः] जो एक रसवाला, एकवर्णवाला, एक गंधवाला और [द्विस्पर्शः] दो स्पर्शवाला हो, [सः] वह [स्वभावगुणः] स्वभाव-गुण वाला [भवेत्] है; [विभावगुणः] विभाव-गुण वाले को [जिनसमये] जिन समय में [सर्वप्रकटत्वम्] सर्व प्रगट (सर्व इन्द्रियों से ग्राह्य) [इति भणितः] कहा है ।

पुद्गल-पर्याय

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जाओ ।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ ॥28॥
स्वभाविक पर्याय पर निरपेक्ष ही होती सदा ।
पर विभाविक पर्याय तो स्कंध ही होता सदा ॥२८॥

अन्वयार्थ : [अन्यनिरपेक्षः] अन्य-निरपेक्ष (अन्य की अपेक्षा-रहित) [यः परिणामः] जो परिणाम [सः] वह [स्वभावपर्यायः] स्वभाव-पर्याय है [पुनः] और [स्कन्धस्वरूपेण परिणामः] स्कन्धरूप परिणाम [सः] वह [विभावपर्यायः] विभाव-पर्याय है ।

पुद्गल-द्रव्य - उपसंहार

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण ।
पोग्गलदव्वो त्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ॥29॥
परमाणु पुद्गल द्रव्य है - यह कथन है परमार्थ का ।
स्कंध पुद्गल द्रव्य है - यह कथन है व्यवहार का ॥२९॥

अन्वयार्थ : [निश्चयेन] निश्चय से [परमाणुः] परमाणु को [पुद्गल-द्रव्यम्] 'पुद्गल-द्रव्य' [उच्यते] कहा जाता है [पुनः] और [इतरेण] व्यवहार से [स्कन्धस्य] स्कन्ध को [पुद्गलद्रव्यम् इति व्यपदेशः] 'पुद्गल-द्रव्य' ऐसा नाम [भवति] होता है ।

धर्म-अधर्म-आकाश

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपोग्गलाणं च ।
अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं ॥30॥
सब द्रव्य के अवगाह में नभ जीव पुद्गल द्रव्य के ।
गमन थिति में धर्म और अधर्म द्रव्य निमित्त हैं ॥३०॥

अन्वयार्थ : [धर्मः] धर्म [जीवपुद्गलानां] जीव-पुद्गलों को [गमननिमित्तः] गमन का निमित्त है [च] और [अधर्मः] अधर्म [स्थितेः] (उन्हें) स्थिति का निमित्त है; [आकाशं] आकाश [जीवादिसर्वद्रव्याणाम्] जीवादि सर्व द्रव्यों को [अवगाहनस्य] अवगाहन का निमित्त है ।

व्यवहारकाल और उसके भेद

समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं ।
तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु ॥31॥
समय आवलि भेद दो भूतादि तीन विकल्प हैं ।
संस्थान से संख्यातगुण आवलि अतीत बखानिये ॥३१॥

अन्वयार्थ : [समयावलिभेदेन तु] समय और आवलि के भेद से [द्विविकल्पः] व्यवहार-काल के दो भेद हैं [अथवा] अथवा [त्रिविकल्पः भवति] (भूत, वर्तमान और भविष्य के भेद से) तीन भेद हैं । [अतीतः] अतीत काल [संख्यातावलिहत-संस्थानप्रमाणः तु] (अतीत) संस्थानों के और संख्यात आवलि के गुणाकार जितना है ।

मुख्य काल का स्वरूप

जीवादु पोग्गलादो णंतगुणा चावि संपदा समया ।
लोयायासे संति य परमट्ठो सो हवे कालो ॥32॥
जीव एवं पुद्गलों से समय नंत गुणे कहे ।
कालाणु लोकाकाश थित परमार्थ काल कहे गये ॥३२॥

अन्वयार्थ : [संप्रति] अब, [जीवात्] जीव से [पुद्गलतः चअपि] तथा पुद्गल से भी [अनन्तगुणाः] अनन्तगुने [समयाः] समय हैं; [च] और [लोकाकाशे संति] जो (कालाणु) लोकाकाश में हैं, [सः] वह [परमार्थः कालः भवेत्] परमार्थ काल है ।

अमूर्त अचेतन द्रव्यों की पर्याय

जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो ।
धम्मादिचउण्हं णं सहावगुणपज्जया होंति ॥33॥
जीवादि के परिणमन में यह काल द्रव्य निमित्त है ।
धर्म आदि चार की निजभाव गुण पर्याय है ॥३३॥

अन्वयार्थ : [जीवादिद्रव्याणाम्] जीवादि द्रव्यों को [परिवर्तन-कारणम्] परिवर्तन का कारण (वर्तनाका निमित्त) [कालः भवेत्] काल है । [धर्मादि-चतुर्णां] धर्मादि चार द्रव्यों में [स्वभावगुणपर्यायाः] स्वभाव-गुण पर्यायें [भवन्ति] होतीं हैं ।

पंचास्तिकाय

एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकाय त्ति ।
णिद्दिट्ठा जिणसमये काया हु बहुप्पदेसत्तं ॥34॥
बहुप्रदेशीपना ही है काय एवं काल बिन ।
जीवादि अस्तिकाय हैं - इस भांति जिनवर के वचन ॥३४॥

अन्वयार्थ : [कालं मुक्त्वा] काल छोड़कर [एतानिषड्द्रव्याणि च] इन छह द्रव्यों को (अर्थात् शेष पाँच द्रव्योंको) [जिनसमये] जिन-समय में (जिनदर्शन में) [अस्तिकायाः इति] 'अस्तिकाय' [निर्दिष्टाः] कहे गये हैं । [बहुप्रदेशत्वम्] बहु-प्रदेशीपना [खलु कायाः] वह कायत्व है ।

द्रव्यों के प्रदेश

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स ।
धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असंखदेसा हु ॥35॥
लोयायासे तावं इदरस्स अणंतयं हवे देसा ।
कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जम्हा ॥36॥
होते अनंत असंख्य संख्य प्रदेश मूर्तिक द्रव्य के ।
होते असंख्य प्रदेश धर्माधर्म चेतन द्रव्य के ॥३५॥
असंख्य लोकाकाश के एवं अनन्त अलोक के ।
फिर भी अकायी काल का तो मात्र एक प्रदेश है ॥३६॥

अन्वयार्थ : [मूर्तस्य] मूर्त द्रव्य को [संख्यातासंख्यातानंत-प्रदेशाः] संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश [भवन्ति] होते हैं; [धर्माधर्मयोः] धर्म, अधर्म [पुनः जीवस्य] तथा जीव को [खलु] वास्तव में [असंख्यातप्रदेशाः] असंख्यात प्रदेश हैं । [लोकाकाशे] लोकाकाश में [तद्वत्] धर्म, अधर्म तथा जीव की भाँति (असंख्यात-प्रदेश) हैं; [इतरस्य] शेष जो अलोकाकाश उसे [अनन्ताः देशाः] अनन्त-प्रदेश [भवन्ति] हैं । [कालस्य] काल को [कायत्वं न] कायपना नहीं है, [यस्मात्] क्योंकि [एकप्रदेशः] वह एक-प्रदेशी [भवेत्] है ।

उपसंहार

पोग्गलदव्वं मुत्तं मुत्तिविरहिया हवंति सेसाणि ।
चेदणभावो जीवो चेदणगुणवज्जिया सेसा ॥37॥
एक पुद्गल मूर्त द्रव्य अमूर्तिक हैं शेष सब ।
एक चेतन जीव है पर हैं अचेतन शेष सब ॥३७॥

अन्वयार्थ : [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गल-द्रव्य [मूर्तं] मूर्त है,[शेषाणि] शेष द्रव्य [मूर्तिविरहितानि] मूर्तत्व रहित [भवन्ति] हैं; [जीवः] जीव [चैतन्यभावः] चैतन्य-भाव वाला है, [शेषाणि] शेष द्रव्य [चैतन्यगुणवर्जितानि] चैतन्य-गुण रहित हैं ।

हेय और उपादेय तत्त्व

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा ।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो ॥38॥
जीवादि जो बहितत्त्व हैं, वे हेय हैं कर्मोपधिज ।
पर्याय से निरपेक्ष आतमराम ही आदेय है ॥३८॥

अन्वयार्थ : [जीवादिबहिस्तत्त्वं] जीवादि बाह्यतत्त्व [हेयम्] हेय हैं; [कर्म्मोपाधिसमुद्भवगुणपर्यायैः] कर्मोपाधि-जनित गुण-पर्यायों से

[व्यतिरिक्तः] व्यतिरिक्त [आत्मा] आत्मा [आत्मनः] आत्मा को [उपादेयम्] उपादेय है ।

निर्विकल्प तत्त्व

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा ।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा ॥39॥
अरे विभाव स्वभाव हर्षाहर्ष मानपमान के ।
स्थान आतम में नहीं ये वचन हैं भगवान के ॥३९॥

अन्वयार्थ : [जीवस्य] जीव को [खलु] वास्तव में [नस्वभावस्थानानि] स्वभाव-स्थान (विभाव-स्वभाव के स्थान) नहीं हैं, [नमानापमानभावस्थानानि वा] मानापमान-भाव के स्थान नहीं हैं, [न हर्षभावस्थानानि] हर्ष-भाव के स्थान नहीं हैं [वा] या [न अहर्षस्थानानि] अहर्ष के स्थान नहीं हैं ।

बन्ध-उदय स्थान जीव नहीं

णो ठिदिबंधट्ठाणा पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा ।
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा ॥40॥
स्थिति अनुभाग बंध एवं प्रकृति परदेश के ।
अर उदय के स्थान आतम में नहीं - यह जानिये ॥४०॥

अन्वयार्थ : [जीवस्य] जीव को [न स्थितिबन्धस्थानानि] स्थितिबन्ध-स्थान नहीं हैं, [प्रकृतिस्थानानि] प्रकृति-स्थान नहीं हैं, [प्रदेशस्थानानि वा] प्रदेश-स्थान नहीं हैं, [न अनुभागस्थानानि] अनुभाग-स्थान नहीं हैं [वा] अथवा [न उदयस्थानानि] उदय-स्थान नहीं हैं ।

चार विभाव-स्वभावों और पंचम-भाव

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा ।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा ॥41॥
इस जीव के क्षायिक क्षयोपशम और उपशम भाव के ।
एवं उदयगत भाव के स्थान भी होते नहीं ॥४१॥

अन्वयार्थ : [न क्षायिकभावस्थानानि] जीव को क्षायिक-भाव के स्थान नहीं हैं, [न क्षयोपशमस्वभावस्थानानि वा] क्षयोपशम-स्वभाव के स्थान नहीं हैं, [औदयिकभावस्थानानि] औदयिक-भाव के स्थान नहीं हैं [वा] अथवा [न उपशमस्वभावस्थानानि] उपशम-स्वभाव के स्थान नहीं हैं ।

शुद्ध-जीव को विकार नहीं

चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोगसोगा य ।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति ॥42॥
चतुर्गति भव भ्रमण रोग रु शोक जन्म-जरा-मरण ।
जीवमार्गणथान अर कुलयोनि ना हों जीव के ॥४२॥

अन्वयार्थ : [जीवस्य] जीव को [चतुर्गतिभवसंभ्रमणं] चारगति के भवों में परिभ्रमण, [जातिजरामरणरोगशोकाः] जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, [कुलयोनिजीवमार्गणस्थानानि च] कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान [नो सन्ति] नहीं है ।

शुद्ध-आत्मा को विभाव का अभाव

णिद्दंडो णिद्दंद्दो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥43॥

निर्दण्ड है निर्द्वन्द्व है यह निरालम्बी आतमा ।
निर्देह है निर्मूढ है निर्भयी निर्मम आतमा ॥४३॥
अन्वयार्थ : [आत्मा] आत्मा [निर्दण्डः] निर्दंड [निर्द्वन्द्वः] निर्द्वंद्व, [निर्ममः] निर्मम, [निःकलः] निःशरीर, [निरालंबः] निरालंब, [नीरागः] नीराग, [निर्दोषः] निर्दोष, [निर्मूढः] निर्मूढ और [निर्भयः] निर्भय है ।

शुद्ध जीव का स्वरूप

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को ।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥44॥
निर्ग्रन्थ है नीराग है नि:शल्य है निर्दोष है ।
निर्मान-मद यह आतमा निष्काम है निष्क्रोध है ॥४४॥
अन्वयार्थ : [आत्मा] आत्मा [निर्ग्रन्थः] निर्ग्रंथ [नीरागः] निराग, [निःशल्यः] निःशल्य, [सकलदोषनिर्मुक्तः] सर्व दोष-विमुक्त, [निःकामः] निष्काम, [निःक्रोधः] निःक्रोध, [निर्मानः] निर्मान और [निर्मदः] निर्मद है ।

कारण-परमात्मा का स्वरूप

वण्णरसगंधफासा थीपुंसणउंसयादिपज्जाया ।
संठाणा संहणणा सव्वे जीवस्स णो संति ॥45॥
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥46॥
स्पर्श रस गंध वर्ण एवं संहनन संस्थान भी ।
नर, नारि एवं नपुंसक लिंग जीव के होते नहीं ॥४५॥
चैतन्यगुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है ।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अर्निदिष्ट अशब्द है ॥४६॥
अन्वयार्थ : [वर्णरसगंधस्पर्शाः] वर्ण-रस-गंध-स्पर्श, [स्त्रीपुंनपुंसकादिपर्यायाः] स्त्री-पुरुष-नपुंसकादि पर्यायें, [संस्थानानि] संस्थान और [संहननानि] संहनन -- [सर्वे] यह सब [जीवस्य] जीव को [नो सन्ति] नहीं हैं । [जीवम्] जीव को [अरसम्] अरस, [अरूपम्] अरूप, [अगंधम्] अगंध,[अव्यक्तम्] अव्यक्त, [चेतनागुणम्] चेतनागुणवाला, [अशब्दम्] अशब्द, [अलिंगग्रहणम्] अलिंगग्रहण (लिंगसे अग्राह्य) और [अनिर्दिष्टसंस्थानम्] जिसे कोई संस्थान नहीं कहा है ऐसा [जानीहि] जान ।

संसारी और मुक्त जीवों में अन्तर नहीं

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति ।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ॥47॥
गुण आठ से हैं अलंकृत अर जन्म-मरण-जरा नहीं ।
हैं सिद्ध जैसे जीव त्यों भवलीन संसारी कहे ॥४७॥
अन्वयार्थ : [यादृशाः] जैसे [सिद्धात्मानः] सिद्ध आत्मा हैं [तादृशाः] वैसे [भवम् आलीनाः जीवाः] भवलीन (संसारी) जीव [भवन्ति] हैं, [येन] जिससे (वे संसारी जीव सिद्धात्माओं की भाँति) [जरामरणजन्ममुक्ताः] जन्म-जरा-मरण से रहित और [अष्टगुणालंकृताः] आठ गुणों से अलंकृत हैं ।

कार्य तथा कारण-समयसार में अन्तर नहीं

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा ।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया ॥48॥

शुद्ध अविनाशी अतीन्द्रिय अदेह निर्मल सिद्ध ज्यों ।
लोकाग्र में जैसे विराजे जीव हैं भवलीन त्यों ॥४८॥
अन्वयार्थ : [यथा] जिसप्रकार [लोकाग्रे] लोकाग्र में [सिद्धाः] सिद्ध-भगवन्त [अशरीराः] अशरीरी, [अविनाशाः] अविनाशी, [अतीन्द्रियाः] अतीन्द्रिय, [निर्मलाः] निर्मल और [विशुद्धात्मानः] विशुद्धात्मा (विशुद्धस्वरूपी) हैं, [तथा] उसीप्रकार [संसृतौ] संसार में [जीवाः] (सर्व) जीव [ज्ञेयाः] जानना ।

निश्चय और व्यवहारनय की उपादेयता

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु ।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा ॥49॥
व्यवहारनय से कहे हैं ये भाव सब इस जीव के ।
पर शुद्धनय से सिद्धसम हैं जीव संसारी सभी ॥४९॥
अन्वयार्थ : [एते] यह (पूर्वोक्त) [सर्वे भावाः] सब भाव [खलु] वास्तव में [व्यवहारनयं प्रतीत्य] व्यवहारनय का आश्रय करके [भणिताः] (संसारी जीवों में विद्यमान) कहे गये हैं; [शुद्धनयात्] शुद्धनय से [संसृतौ] संसार में रहने वाले [सर्वे जीवाः] सर्व जीव [सिद्धस्वभावाः] सिद्ध-स्वभावी हैं ।

हेय-उपादेय का स्वरूप

पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं ।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा ॥50॥
हैं हेय ये परभाव सब ही क्योंकि ये परद्रव्य हैं ।
आदेय अन्तस्तत्त्व आतम क्योंकि वह स्वद्रव्य है ॥५०॥
अन्वयार्थ : [पूर्वोक्तसकलभावाः] पूर्वोक्त सर्व भाव [परस्वभावाः] पर स्वभाव हैं, [परद्रव्यम्] पर-द्रव्य हैं, [इति] इसलिये [हेयाः] हेय हैं, [अन्तस्तत्त्वं] अन्तःतत्त्व [स्वकद्रव्यम्] ऐसा स्वद्रव्य [आत्मा] आत्मा [उपादेयम्] उपादेय [भवेत्] है ।

रत्नत्रय का स्वरूप

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं ॥51॥
चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ।
अधिगमभावो णाणं हेयोवादेयतच्चाणं ॥52॥
सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥53॥
सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं ।
ववहारणिच्छएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि ॥54॥
ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणं ।
णिच्छयणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥55॥
मिथ्याभिप्राय विहीन जो श्रद्धान वह सम्यक्त्व है ।
विभरम संशय मोह विरहित ज्ञान ही सद्ज्ञान है ॥५१॥
चल मल अगाढ़पने रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है ।
आदेय हेय पदार्थ का ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ॥५२॥

जिन सूत्र समकित हेतु पर जो सूत्र के ज्ञायक पुरुष ।
वे अंतरंग निमित्त हैं दृग मोह क्षय के हेतु से ॥५३॥
सम्यक्त्व सम्यग्ज्ञान पूर्वक आचरण है मुक्तिमग ।
व्यवहार-निश्चय से अत: चारित्र की चर्चा करूँ ॥५४॥
व्यवहारनय चारित्र में व्यवहारनय तपचरण हो ।
नियतनय चारित्र में बस नियतनय तपचरण हो ॥५५॥
अन्वयार्थ : [विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानम् एव] विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान ही [सम्यक्त्वम्] सम्यक्त्व है;
[संशयविमोहविभ्रम-विवर्जितम्] संशय, विमोह और विभ्रम रहित (ज्ञान) वह [संज्ञानम् भवति] सम्यग्ज्ञान है ।
[चलमलिनमगाढत्वविवर्जितश्रद्धानम् एव] चलता, मलिनता और अगाढ़ता रहित श्रद्धान ही [सम्यक्त्वम्] सम्यक्त्व है;
[हेयोपादेयतत्त्वानाम्] हेय और उपादेय तत्त्वों को [अधिगमभावः] जाननेरूप भाव वह [ज्ञानम्] (सम्यक्) ज्ञान है ।
[सम्यक्त्वस्य निमित्तं] सम्यक्त्व का निमित्त [जिनसूत्रं] जिनसूत्र है; [तस्य ज्ञायकाःपुरुषाः] जिनसूत्र के जाननेवाले पुरुषों को [अन्तर्हेतवः] (सम्यक्त्व के) अन्तरंग हेतु [भणिताः] कहे हैं, [दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः] क्योंकि उनको दर्शनमोह के क्षयादिक हैं ।
[शृणु] सुन, [मोक्षस्य] मोक्ष के लिये [सम्यक्त्वं] सम्यक्त्व होता है, [संज्ञानं] सम्यग्ज्ञान [विद्यते] होता है, [चरणम्] चारित्र (भी) [भवति] होता है; [तस्मात्]
इसलिये [व्यवहारनिश्चयेन तु] मैं व्यवहार और निश्चय से [चरणं प्रवक्ष्यामि] चारित्र कहूँगा ।
[व्यवहारनयचरित्रे] व्यवहारनय के चारित्र में [व्यवहारनयस्य] व्यवहारनय का [तपश्चरणम्] तपश्चरण [भवति] होता है; [निश्चयनयचारित्रे] निश्चयनय के चारित्र में [निश्चयतः] निश्चय से [तपश्चरणम्] तपश्चरण [भवति] होता है ।

अहिंसाव्रत

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं ।
तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होइ पढमवदं ॥56॥
कुल योनि जीवस्थान मार्गणथान जिय के जानकर ।
उन्हीं के आरंभ से बचना अहिंसाव्रत कहा ॥५६॥
अन्वयार्थ : [जीवानाम्] जीवों के [कुलयोनिजीवमार्गणास्थानादिषु] कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि [ज्ञात्वा] जानकर [तस्य] उनके [आरम्भनिवृत्ति-परिणामः] आरम्भ से निवृत्तिरूप परिणाम वह [प्रथमव्रतम्] पहला व्रत [भवति] है ।

सत्यव्रत

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं ।
जो पजहदि साहु सया बिदियवदं होइ तस्सेव ॥57॥
मोह एवं राग-द्वेषज मृषा भाषण भाव को ।
हैं त्यागते जो साधु उनके सत्यभाषण व्रत कहा ॥५७॥
अन्वयार्थ : [रागेण वा] राग से, [द्वेषेण वा] द्वेष से [मोहेन वा] अथवा मोह से होनेवाले [मृषाभाषापरिणामं] मृषा भाषा के परिणाम को [यः साधुः] जो साधु [प्रजहाति] छोड़ता है, [तस्य एव] उसी को [सदा] सदा [द्वितीयव्रतं] दूसरा व्रत [भवति] है ।

अचौर्य-व्रत

गामे वा णयरे वाऽरण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं ।
जो मुयदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव ॥58॥
ग्राम में वन में नगर में देखकर परवस्तु जो ।

उसके ग्रहण का भाव त्यागे तीसरा व्रत उसे हो ॥५८॥

अन्वयार्थ : [ग्रामे वा] ग्राम में, [नगरे वा] नगर में [अरण्ये वा] या वन में [परम् अर्थम्] परायी वस्तु को [प्रेक्षयित्वा] देखकर [यः] जो (साधु) [ग्रहणभावं] उसे ग्रहण करने के भाव को [मुंचति] छोड़ता है, [तस्य एव] उसी को [तृतीयव्रतं] तीसरा व्रत [भवति] है ।

ब्रह्मचर्य-व्रत

दट्ठूण इत्थिरूवं वांछाभावं णियत्तदे तासु ।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरियवदं ॥59॥
देख रमणी रूप वांछा भाव से निर्वृत्त हो ।
या रहित मैथुनभाव से है वही चौथा व्रत अहो ॥५९॥

अन्वयार्थ : [स्त्रीरूपं दृष्टवा] स्त्रियों का रूप देखकर [तासु] उनके प्रति [वांच्छाभावं निवर्तते] वांछाभाव की निवृत्ति वह [अथवा] अथवा [मैथुनसंज्ञा-विवर्जित परिणामः] मैथुन-संज्ञा रहित जो परिणाम वह [तुरीयव्रतम्] चौथा व्रत है ।

परिग्रह-त्याग व्रत

सव्वेसिं गंथाणं चागो णिरवेक्खभावणापुव्वं ।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स ॥60॥
निरपेक्ष भावों पूर्वक सब परिग्रहों का त्याग ही ।
चारित्रधारी मुनिवरों का पाँचवाँ व्रत कहा है ॥६०॥

अन्वयार्थ : [निरपेक्षभावनापूर्वम्] निरपेक्ष भावना पूर्वक (जिस भावना में पर की अपेक्षा नहीं है ऐसी शुद्ध निरालम्बन भावना सहित) [सर्वेषां ग्रन्थानां त्यागः] सर्व परिग्रहों का त्याग वह, [चारित्रभरं वहतः] चारित्रभर वहन करनेवाले को [पंचमव्रतम् इति भणितम्] पाँचवाँ व्रत कहा है ।

ईर्या-समिति

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि ।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स ॥61॥
जिन श्रमण धुरा प्रमाण भूलख चले प्रासुक मार्ग से ।
दिन में करें विहार नित ही समिति ईर्या यह कही ॥६१॥

अन्वयार्थ : [श्रमणः] जो श्रमण [प्रासुकमार्गेण] प्रासुक मार्ग पर [दिवा] दिनमें [युगप्रमाणं] धुरा-प्रमाण [पुरतः] आगे [खलु अवलोकन्] देखकर [गच्छति] चलता है, [तस्य] उसे [ईर्यासमितिः] ईर्यासमिति [भवेत्] होती है ।

भाषा-समिति

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं ।
परिचत्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स ॥62॥
परिहास चुगली और निन्दा तथा कर्कश बोलना ।
यह त्यागना ही समिति दूजी स्व-पर हितकर बोलना ॥६२॥

अन्वयार्थ : [पैशून्यहास्यकर्कशपरनिन्दात्मप्रशंसितं वचनम्] पैशून्य (चुगली), हास्य, कर्कश भाषा, परनिन्दा और आत्म-प्रशंसारूप वचन का [परित्यज्य] परित्याग कर [स्वपरहितं वदतः] जो स्व-पर हितरूप वचन बोलता है, उसे [भाषासमितिः] भाषा-समिति होती है ।

एषणा-समिति

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च ।

दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी ॥63॥
स्वयं करना कराना अनुमोदना से रहित जो ।
निर्दोष प्रासुक भुक्ति ही है एषणा समिति अहो ॥६३॥
अन्वयार्थ : [परेण दत्तं] पर द्वारा दिया गया, [कृतकारितानुमोदनरहितं] कृत-कारित-अनुमोदन रहित, [तथा प्रासुकं] प्रासुक [प्रशस्तंच] और प्रशस्त [भक्तं] भोजन करनेरूप [संभुक्तिः] जो सम्यक् आहार-ग्रहण [एषणासमितिः] वह एषणा-समिति है ।

आदाननिक्षेपण समिति

पोत्थइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो ।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदि त्ति णिद्दिट्ठा ॥64॥
पुस्तक कमण्डल संत जन नित सावधानीपूर्वक ।
आदाननिक्षेपणसमिति में ग्रहण-निक्षेपण करें ॥६४॥
अन्वयार्थ : [पुस्तककमण्डलादिग्रहणविसर्गयोः] पुस्तक, कमण्डल आदि लेने-रखने सम्बन्धी [प्रयत्नपरिणामः] प्रयत्न-परिणाम वह [आदाननिक्षेपणसमितिः] आदान-निक्षेपण-समिति [भवति] है [इति निर्दिष्टा] ऐसा कहा है ।

प्रतिष्ठापन समिति

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण ।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स ॥65॥
प्रतिष्ठापन समिति में उस भूमि पर मल मूत्र का ।
क्षेपण करें जो गूढ प्रासुक और हो अवरोध बिन ॥६५॥
अन्वयार्थ : [परोपरोधेन रहिते] जिसे पर के उपरोध रहित (दूसरे से रोका न जाये ऐसे), [गूढे] गूढ़ और [प्रासुकभूमिप्रदेशे] प्रासुक भूमि प्रदेश में [उच्चारादित्यागः] मलादि का त्याग हो, [तस्य] उसे [प्रतिष्ठासमितिः] प्रतिष्ठापन समिति [भवेत्] होती है ।

व्यवहार मनोगुप्ति

कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं ।
परिहारो मणुगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ॥66॥
मोह राग द्वेष संज्ञा कलुषता के भाव जो ।
इन सभी का परिहार मनगुप्ति कहा व्यवहार से ॥६६॥
अन्वयार्थ : [कालुष्यमोहसंज्ञारागद्वेषाद्यशुभभावानाम्] कलुषता, मोह, संज्ञा, राग, द्वेष आदि अशुभ भावों के [परिहारः] परिहार को [व्यवहारनयेन] व्यवहारनय से [मनोगुप्तिः] मनोगुप्ति [परिकथिता] कहा है ।

वचन-गुप्ति

थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स ।
परिहारो वयगुत्ती अलियादिणियत्तिवयणं वा ॥67॥
पापकारण राज दारा चोर भोजन की कथा ।
मृषा भाषण त्याग लक्षण है वचन की गुप्ति का ॥६७॥
अन्वयार्थ : [पापहेतोः] पाप के हेतुभूत ऐसे [स्त्रीराजचौरभक्तकथादिवचनस्य] स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भक्तकथा इत्यादिरूप वचनों का [परिहारः] परिहार [वा] अथवा [अलीकादिनिवृत्तिवचनं] असत्यादिक की निवृत्तिवाले वचन [वाग्गुप्तिः] वह वचनगुप्ति है ।

काय-गुप्ति

बंधणछेदणमारणआकुंचण तह पसारणादीया ।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्ति त्ति ॥68॥
मारन प्रसारन बंध छेदन और आकुंचन सभी ।
कायिक क्रियाओं की निवृत्ति कायगुप्ति जिन कही ॥६८॥

अन्वयार्थ : [बंधनछेदनमारणाकुंचनानि] बंधन, छेदन, मारण (मार डालना), आकुञ्चन (संकोचना) [तथा] तथा [प्रसारणादीनि] प्रसारण (विस्तारना) इत्यादि [कायक्रियानिवृत्तिः] कायक्रियाओं की निवृत्ति को [कायगुप्तिः इतिनिर्दिष्टा] कायगुप्ति कहा है ।

निश्चय मनोगुप्ति और वचनगुप्ति

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तं मणोगुत्ती ।
अलियादिणियत्तिं वा मोणं वा होइ वइगुत्ती ॥69॥
मनोगुप्ति हृदय से रागादि का मिटना अहा ।
वचनगुप्ति मौन अथवा असत् न कहना कहा ॥६९॥

अन्वयार्थ : [मनसः] मन में से [या] जो [रागादिनिवृत्तिः] रागादि की निवृत्ति [ताम्] उसे [मनोगुप्तिम्] मनोगुप्ति [जानीहि] जान । [अलीक आदिनिवृत्तिः] असत्यादि की निवृत्ति [वा] अथवा [मौनं वा] मौन [वाग्गुप्तिः भवति] सो वचनगुप्ति है ।

निश्चय काय-गुप्ति

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती ।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा ॥70॥
दैहिक क्रिया की निर्वृत्ति तनगुप्ति कायोत्सर्ग है ।
या निवृत्ति हिंसादि की ही कायगुप्ति जानना ॥७०॥

अन्वयार्थ : [कायक्रियानिवृत्तिः] काय-क्रियाओं की निवृत्तिरूप [कायोत्सर्गः] कायोत्सर्ग [शरीरके गुप्तिः] शरीर सम्बन्धी गुप्ति है; [वा] अथवा [हिंसादिनिवृत्तिः] हिंसादि की निवृत्ति को [शरीरगुप्तिः इति] शरीर-गुप्ति [निर्दिष्टा] कहा है ।

अर्हत् परमेश्वर

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया ।
चोत्तिसअदिसयजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ॥71॥
अरिहंत केवलज्ञान आदि गुणों से संयुक्त हैं ।
घनघाति कर्मों से रहित चौंतीस अतिशय युक्त हैं ॥७१॥

अन्वयार्थ : [घनघातिकर्मरहिताः] घनघातिकर्म रहित, [केवलज्ञानादि-परमगुणसहिताः] केवलज्ञानादि परम गुणों सहित और [चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ताः] चौंतीस अतिशय संयुक्त -- [ईद्दशाः] ऐसे, [अर्हन्तः] अर्हन्त [भवन्ति] होते हैं ।

सिद्ध-परमेष्ठि

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥72॥
नष्ट कीने अष्ट विध विधि स्वयं में एकाग्र हो ।
अष्ट गुण से सहित सिध थित हुए हैं लोकाग्र में ॥७२॥

अन्वयार्थ : [नष्टाष्टकर्मबन्धाः] आठ कर्मों के बन्ध को जिन्होंने नष्ट किया है ऐसे, [अष्टमहागुणसमन्विताः] आठ महागुणों सहित, [परमाः] परम, [लोकाग्रस्थिताः] लोक के अग्र में स्थित और [नित्याः] नित्य [ईद्रशाः] ऐसे, [तेसिद्धाः] वे सिद्ध [भवन्ति] होते हैं ।

आचार्य

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा ।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥73॥
पंचेन्द्रिय गजमदगलन हरि मुनि धीर गुण गंभीर अर ।
परिपूर्ण पंचाचार से आचार्य होते हैं सदा ॥७३॥

अन्वयार्थ : [पंचाचारसमग्राः] पंचाचारों से परिपूर्ण, [पंचेन्द्रिय-दंतिदर्प्पनिर्दलनाः] पंचेन्द्रियरूपी हाथी के मद का दलन करनेवाले, [धीराः] धीर और [गुणगंभीराः] गुणगंभीर -- [ईद्रशाः] ऐसे, [आचार्याः] आचार्य [भवन्ति] होते हैं ।

उपाध्याय

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा ।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति ॥74॥
रतन त्रय संयुक्त अर आकांक्षाओं से रहित ।
तत्त्वार्थ के उपदेश में जो शूर वे पाठक मुनी ॥७४॥

अन्वयार्थ : [रत्नत्रयसंयुक्ताः] रत्नत्रय से संयुक्त, [शूराःजिनकथितपदार्थदेशकाः] जिनकथित पदार्थों के शूरवीर उपदेशक और [निःकांक्षभावसहिताः] निःकांक्षभाव सहित - [ईद्रशाः] ऐसे, [उपाध्यायाः] उपाध्याय [भवन्ति] होते हैं ।

साधुओं का स्वरूप

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू दे एरिसा होंति ॥75॥
आराधना अनुरक्त नित व्यापार से भी मुक्त हैं ।
जिनमार्ग में सब साधुजन निर्मोह हैं निर्ग्रन्थ हैं ॥७५॥

अन्वयार्थ : [व्यापारविप्रमुक्ताः] व्यापार से विमुक्त (समस्त व्यापार रहित), [चतुर्विधाराधनासदारक्ताः] चतुर्विध आराधना में सदा रक्त, [निर्ग्रन्थाः] निर्ग्रंथ और [निर्मोहाः] निर्मोह - [ईद्रशाः] ऐसे, [साधवः] साधु [भवन्ति] होते हैं ।

व्यवहार-चारित्र-अधिकार का उपसंहार

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं ।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥76॥
इसतरह की भावना व्यवहार से चारित्र है ।
अब कहूँगा मैं अरे निश्चयनयाश्रित चरण को ॥७६॥

अन्वयार्थ : [ईद्रग्भावनायाम्] ऐसी (पूर्वोक्त) भावना में [व्यवहारनयस्य] व्यवहारनय के अभिप्राय से [चारित्रम्] चारित्र [भवति] है; [निश्चयनयस्य] निश्चयनय के अभिप्राय से [चरणम्] चारित्र [एतदूर्ध्वम्] इसके पश्चात् [प्रवक्ष्यामि] कहूँगा ।

पंचरत्न का स्वरूप

णाहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥77॥
णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥78॥
णाहं बालो बुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं ।

कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥79॥
णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥80॥
णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहो हं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥81॥
नारक नहीं, तिर्यंच - मानव - देव पर्यय मैं नहीं ।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमंता मैं नहीं ॥७७॥
मैं मार्गणा के स्थान नहिं, गुणस्थान - जीवस्थान नहिं ।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमंता मैं नहीं ॥७८॥
बालक नहीं मैं, वृद्ध नहिं, नहिं युवक, तिन कारण नहीं ।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमंता मैं नहीं ॥७९ ॥
मैं राग नहिं, मैं द्वेष नहिं, नहिं मोह, तिन कारण नहीं ।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमंता मैं नहीं ॥८०॥
मैं क्रोध नहिं, मैं मान नहिं, माया नहीं, मैं लोभ नहिं ।
कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमोदक मैं नहीं ॥८१॥
अन्वयार्थ : [अहं] मैं [नारकभावः] नारकपर्याय,[तिर्यङ्गानुषदेवपर्यायः] तिर्यंचपर्याय, मनुष्यपर्याय अथवा देवपर्याय [न] नहीं हूँ; [कर्ता न हि कारयिता] उनका (मैं) कर्ता नहीं हूँ, कारयिता (करानेवाला) नहीं हूँ, [कर्तॄणाम्‌अनुमंता न एव] कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ ।
[अहं मार्गणास्थानानि न] मैं मार्गणास्थान नहीं हूँ, [अहं] मैं [गुणस्थानानि न] गुणस्थान नहीं हूँ [जीवस्थानानि] जीवस्थान [न] नहीं हूँ; [कर्ता न हि कारयिता] उनका मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, [कर्तॄणाम् अनुमंता न एव] कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ ।
[न अहं बालः वृद्धः] मैं बाल नहीं हूँ, वृद्ध नहीं हूँ, [न च एव तरुणः] तथा तरुण नहीं हूँ; [तेषां कारणं न] उनका (मैं) कारण नहीं हूँ; [कर्ता न हि कारयिता] उनका (मैं) कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, [कर्तॄणाम् अनुमंता न एव] कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ ।
[न अहं रागः द्वेषः] मैं राग नहीं हूँ, द्वेष नहीं हूँ, [न च एव मोहः] तथा मोह नहींहूँ; [तेषां कारणं न] उनका (मैं) कारण नहीं हूँ, [कर्ता न हि कारयिता] उनका (मैं) कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ; [कर्तॄणाम् अनुमंता न एव] कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ ।
[न अहं क्रोधः मानः] मैं क्रोध नहीं हूँ, मान नहीं हूँ, [न च एव अहं माया] तथामैं माया नहीं हूँ, [लोभः न भवामि] लोभ नहीं हूँ; [कर्ता न हि कारयिता] उनका (मैं) कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, [कर्तॄणाम् अनुमंता न एव] कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ ।

भेदविज्ञान द्वारा निश्चय-चारित्र

एरिसभेदब्भासे मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं ।
तं दिढकरणणिमित्तं पडिक्कमणादी पवक्खामि ॥82॥
इस भेद के अभ्यास से माध्यस्थ हो चारित लहे ।
चारित्रदृढ़ता हेतु हम प्रतिक्रमण आदिक अब कहें ॥८२॥
अन्वयार्थ : [इद्रग्भेदाभ्यासे] ऐसा भेद-अभ्यास होने पर [मध्यस्थः] जीव मध्यस्थ होता है, [तेन चारित्रम् भवति] उससे चारित्र होता है । [तद्द्रढीकरणनिमित्तं] उसे (चारित्रको) दृढ़ करने के लिये [प्रतिक्रमणादिं प्रवक्ष्यामि] मैं प्रतिक्रमणादि कहूँगा ।

वचनगुप्त रागादि-रहित ही प्रतिक्रमण

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं ॥83॥
रे वचन रचना छोड़ रागद्वेष का परित्याग कर ।

ध्याता निजात्मा जीव तो होता उसी को प्रतिक्रमण ॥८३॥

अन्वयार्थ : [वचनरचनां] वचनरचना को [मुक्त्वा] छोड़कर, [रागादि-भाववारणं] रागादिभावों का निवारण [कृत्वा] करके, [यः] जो [आत्मानं] आत्मा को [ध्यायति] ध्याता है, [तस्य तु] उसे [प्रतिक्रमणं] प्रतिक्रमण [भवति इति] होता है ।

विराधना-रहित आत्माराधक ही प्रतिक्रमण

आराहणाइ वट्टइ मोत्तूण विराहणं विसेसेण ।

सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥84॥

छोड़े समस्त विराधना आराधनारत जो रहे ।

प्रतिक्रमणमयता हेतुसे प्रतिक्रमण उसको ही कहें ॥८४॥

अन्वयार्थ : [विराधनं] जो (जीव) विराधन को [विशेषेण] विशेषतः [मुक्त्वा] छोड़कर [आराधनायां] आराधना में [वर्तते] वर्तता है, [सः] वह (जीव) [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण [उच्यते] कहलाता है, [यस्मात्] कारण कि वह [प्रतिक्रमणमयः भवेत्] प्रतिक्रमणमय है ।

अनाचरण-रहित आचारी ही प्रतिक्रमण

मोत्तूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरभावं ।

सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥85॥

जो जीव त्याग अनाचरण, आचारमें स्थिरता करे ।

प्रतिक्रमणमयता हेतुसे प्रतिक्रमण कहते हैं उसे ॥८५॥

अन्वयार्थ : [यः तु] जो [अनाचारं] अनाचार [मुक्त्वा] छोड़कर [आचारे] आचार में [स्थिरभावम्] स्थिरभाव [करोति] करता है, [सः] वह (जीव) [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण [उच्यते] कहलाता है, [यस्मात्] कारण कि वह [प्रतिक्रमणमयः भवेत्] प्रतिक्रमणमय है ।

उन्मार्ग-त्यागी जिनमार्गी ही प्रतिक्रमण

उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं ।

सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥86॥

उन्मार्ग का कर परित्यजन जिनमार्ग में स्थिरता करे ।

प्रतिक्रमणमयता हेतु से प्रतिक्रमण कहते हैं उसे ॥

अन्वयार्थ : [यः तु] जो [उन्मार्गं] उन्मार्ग का [परित्यज्य] परित्याग करके [जिनमार्गे] जिनमार्ग में [स्थिरभावम्] स्थिरभाव [करोति] करता है, [सः] वह (जीव) [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण [उच्यते] कहलाता है, [यस्मात्] कारण कि वह [प्रतिक्रमणमयः भवेत्] प्रतिक्रमणमय है ।

निःशल्यभाव ही प्रतिक्रमण

मोत्तूण सल्लभावं णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि ।

सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥87॥

कर शल्य का परित्याग मुनि निःशल्य जो वर्तन करे ।

प्रतिक्रमणमयता हेतु से प्रतिक्रमण कहते हैं उसे ॥८७॥

अन्वयार्थ : [यः तु साधुः] जो साधु [शल्यभावं] शल्यभाव [मुक्त्वा] छोड़कर [निःशल्ये] निःशल्यभाव से [परिणमति] परिणमित होता है, [सः] वह (साधु) [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण [उच्यते] कहलाता है, [यस्मात्] कारण कि वह [प्रतिक्रमणमयः भवेत्] प्रतिक्रमणमय है ।

त्रिगुप्तिगुप्त ही प्रतिक्रमण

चत्ता अगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू ।

सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥88॥
जो साधु छोड़ अगुप्ति को त्रय-गुप्ति में विचरण करे ।
प्रतिक्रमणमयता हेतु से प्रतिक्रमण कहते हैं उसे ॥८८॥

अन्वयार्थ : [यः साधुः] जो साधु [अगुप्तिभावं] अगुप्तिभाव [त्यक्त्वा] छोड़कर, [त्रिगुप्तिगुप्तः भवेत्] त्रिगुप्तिगुप्त रहता है, [सः] वह (साधु) [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण [उच्यते] कहलाता है, [यस्मात्] कारण कि वह [प्रतिक्रमणमयः भवेत्] प्रतिक्रमणमय है ।

धर्म-शुक्ल ध्यानी ही प्रतिक्रमण

मोत्तूण अट्टरुद्दं झाणं जो झादि धम्मसुक्कं वा ।
सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु ॥89॥
जो आर्त रौद्र विहाय वर्त्ते धर्म-शुक्ल सुध्यान में ।
प्रतिक्रमण कहते हैं उसे जिनदेव के आख्यान में ॥८९॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [आर्तरौद्रं ध्यानं] आर्त और रौद्र ध्यान [मुक्त्वा] छोड़कर [धर्मशुक्लं वा] धर्म अथवा शुक्लध्यान को [ध्यायति] ध्याता है, [सः] वह (जीव) [जिनवरनिर्दिष्टसूत्रेषु] जिनवर-कथित सूत्रों में [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण [उच्यते] कहलाता है ।

अनासन्न-भव्य जीव के पूर्वापर परिणाम

मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं ।
सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण ॥90॥
मिथ्यात्व आदिक भाव की की जीव ने चिर भावना ।
सम्यक्त्व आदिक भाव की न करी कभी भी भावना ॥९०॥

अन्वयार्थ : [मिथ्यात्वप्रभृतिभावाः] मिथ्यात्वादि भाव [जीवेन] जीव ने [पूर्वं] पूर्व में [सुचिरम्] सुचिर काल (अति दीर्घ काल) [भाविताः] भाये हैं; [सम्यक्त्वप्रभृतिभावाः] सम्यक्त्वादि भाव [जीवेन] जीव ने [अभाविताः भवन्ति] नहीं भाये हैं ।

निश्चय-रत्नत्रय धारक ही प्रतिक्रमण

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिरवसेसेण ।
सम्मत्तणाणचरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं ॥91॥
जो जीव त्यागे सर्व मिथ्यादर्श-ज्ञान-चरित्र रे ।
सम्यक्त्व-ज्ञान-चरित्र भावे प्रतिक्रमण कहते उसे ॥९१॥

अन्वयार्थ : [मिथ्यादर्शनज्ञानचरित्रं] मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को [निरवशेषेण] निरवशेषरूप से [त्यक्त्वा] छोड़कर [सम्यक्त्वज्ञानचरणं] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को [यः] जो [भावयति] भाता है, [सः] वह (जीव) [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण है ।

निश्चय-उत्तमार्थ प्रतिक्रमण

उत्तमअट्ठं आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं ।
तम्हा दु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं ॥92॥
है जीव उत्तम **अर्थ**, मुनि तत्रस्थ हन्ता कर्म का ।
अतएव है बस ध्यान ही प्रतिक्रमण उत्तम अर्थ का ॥९२॥

अन्वयार्थ : [उत्तमार्थः] उत्तमार्थ (उत्तम पदार्थ) [आत्मा] आत्मा है; [तस्मिन् स्थिताः] उसमें स्थित [मुनिवराः] मुनिवर [कर्म घ्नन्ति] कर्म का घात करते हैं । [तस्मात् तु] इसलिये [ध्यानम् एव] ध्यान ही [हि] वास्तव में [उत्तमार्थस्य] उत्तमार्थ का [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण है ।

ध्यान एक उपादेय

झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥93॥
रे साधु करता ध्यान में सब दोष का परिहार है ।
अतएव ही सर्वातिचार प्रतिक्रमण यह ध्यान है ॥९३॥

अन्वयार्थ : [ध्याननिलीनः] ध्यान में लीन [साधुः] साधु [सर्वदोषाणाम्] सर्व दोषों का [परित्यागं] परित्याग [करोति] करते हैं; [तस्मात् तु] इसलिये [ध्यानम् एव] ध्यान ही [हि] वास्तव में [सर्वातिचारस्य] सर्व अतिचार का [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण है ।

व्यवहार प्रतिक्रमण की सफलता

पडिकमणणामधेये सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं ।
तह णच्चा जो भावइ तस्स तदा होदि पडिक्कमणं ॥94॥
प्रतिक्रमणनामक सूत्रमें प्रतिक्रमण वर्णित है यथा ।
होता उसे प्रतिक्रमण जो जाने तथा भावे तथा ॥९४॥

अन्वयार्थ : [प्रतिक्रमणनामधेये] प्रतिक्रमण नामक [सूत्रे] सूत्र में [यथा] जिसप्रकार [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण का [वर्णितं] वर्णन किया गया है [तथा ज्ञात्वा] तदनुसार जानकर [यः] जो [भावयति] भाता है, [तस्य] उसे [तदा] तब [प्रतिक्रमणम् भवति] प्रतिक्रमण है ।

निश्चय प्रत्याख्यान का स्वरूप

मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥95॥
भावी शुभाशुभ छोड़कर, तजकर वचन विस्तार रे ।
जो जीव ध्याता आत्म, प्रत्याख्यान होता है उसे ॥९५॥

अन्वयार्थ : [सकलजल्पम्] समस्त जल्प को (वचन-विस्तार को) [मुक्त्वा] छोड़कर और [अनागतशुभाशुभनिवारणं] अनागत शुभ-अशुभ का निवारण [कृत्वा] करके [यः] जो [आत्मानं] आत्मा को [ध्यायति] ध्याता है, [तस्य] उसे [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान [भवेत्] है ।

अनंतचतुष्टयात्मक निज-आत्मा के ध्यान का उपदेश

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहावसुहमइओ ।
केवलसत्तिसहावो सो हं इदि चिंतए णाणी ॥96॥
कैवल्य दर्शन-ज्ञान-सुख; कैवल्य शक्ति स्वभाव जो ।
मैं हूँ वही, यह चिन्तवन होता निरन्तर ज्ञानि को ॥९६॥

अन्वयार्थ : [केवलज्ञानस्वभावः] केवलज्ञान-स्वभावी, [केवलदर्शनस्वभावः] केवलदर्शन-स्वभावी, [सुखमयः] सुखमय और [केवलशक्तिस्वभावः] केवलशक्ति-स्वभावी [सः अहम्] वह मैं हूँ - [इति] ऐसा [ज्ञानी] ज्ञानी [चिंतयेत्] चिंतवन करते हैं ।

ज्ञानी को शिक्षा

णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइं ।
जाणदि पस्सदि सव्वं सो हं इदि चिंतए णाणी ॥97॥
निजभावको छोड़े नहीं, किंचित् ग्रहे परभाव नहिं ।
देखे व जाने मैं वही, ज्ञानी करे चिन्तन यही ॥९७॥

अन्वयार्थ : [निजभावं] जो निजभाव को [न अपि मुंचति] नहीं छोड़ता, [कम् अपि परभावं] किंचित् भी परभाव को [न एव गृह्णाति]

ग्रहण नहीं करता, [सर्वं] सर्व को [जानाति पश्यति] जानता - देखता है, [सः अहम्] वह मैं हूँ -- [इति] ऐसा [ज्ञानी] ज्ञानी [चिंतयेत्] चिंतवन करता है ।

बन्ध-रहित आत्मा को भाना चाहिये

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा ।
सो हं इदि चिंतिज्जो तत्थेव य कुणदि थिरभावं ॥98॥
जो प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश बँधविन आत्मा ।
मैं हूँ वही, यों भावता ज्ञानी करे स्थिरता वहाँ ॥९८॥

अन्वयार्थ : [प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैः विवर्जितः] प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध रहित [आत्मा] जो आत्मा [सः अहम्] सो मैं हूँ - [इति] यों [चिंतयन्] चिंतवन करता हुआ, (ज्ञानी) [तत्र एव च] उसी में [स्थिरभावं करोति] स्थिरभाव करता है ।

सकल विभाव के त्याग की विधि

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे ॥99॥
मैं त्याग ममता, निर्ममत्व स्वरूपमें स्थिति कर रहा ।
अवलम्ब मेरा आत्मा, अवशेष वारण कर रहा ॥९९॥

अन्वयार्थ : [ममत्वं] मैं ममत्व को [परिवर्जयामि] छोड़ता हूँ और [निर्ममत्वम्] निर्ममत्व में [उपस्थितः] स्थित रहता हूँ; [आत्मा] आत्मा [मे] मेरा [आलम्बनं च] आलम्बन है [अवशेषं च] और शेष [विसृजामि] मैं छोड़ता हूँ ।

सर्वत्र आत्मा उपादेय है

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥100॥
मम ज्ञान में है आतमा, दर्शन चरित में आतमा ।
है और प्रत्याख्यान, संवर, योग में भी आतमा ॥१००॥

अन्वयार्थ : [खलु] वास्तव में [मम ज्ञाने] मेरे ज्ञान में [आत्मा] आत्मा है, [मे दर्शने] मेरे दर्शन में [च] तथा [चरित्रे] चारित्र में [आत्मा] आत्मा है, [प्रत्याख्याने] मेरे प्रत्याख्यान में [आत्मा] आत्मा है, [मे संवरे योगे] मेरे संवर में तथा योग में (शुद्धोपयोग में) [आत्मा] आत्मा है ।

संसारावस्था में और मुक्ति में जीव निःसहाय है

एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं ।
एगस्स जादि मरणं एगो सिज्झदि णीरओ ॥101॥
मरता अकेला जीव, एवं जन्म एकाकी करे ।
पाता अकेला ही मरण, अरु मुक्ति एकाकी करे ॥१०१॥

अन्वयार्थ : [जीवः एकः च] जीव अकेला [म्रियते] मरता है [च] और [स्वयम् एकः] स्वयं अकेला [जीवति] जन्मता है; [एकस्य] अकेले का [मरणं जायते] मरण होता है और [एकः] अकेला [नीरजाः] रज-रहित (कर्म-रहित) होता हुआ [सिध्यति] सिद्ध होता है ।

एकत्व भावनारूप से परिणमित सम्यग्ज्ञानी के लक्षण

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥102॥
दृग्ज्ञान-लक्षित और शाश्वत मात्र - आत्मा मम अरे ।

अरु शेष सब संयोग लक्षित भाव मुझसे है परे ॥१०२॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानदर्शनलक्षणः] ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला [शाश्वतः] शाश्वत [एकः] एक [आत्मा] आत्मा [मे] मेरा है; [शेषाः सर्वे] शेष सब [संयोगलक्षणाः भावाः] संयोग-लक्षणवाले भाव [मे बाह्याः] मुझसे बाह्य हैं ।

आत्मगत दोषों से मुक्त होने के उपाय

जं किंचि मे दुच्चरित्तं सव्वं तिविहेण वोसरे ।
सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥103॥
जो कोइ भी दुष्चरित मेरा सर्व त्रयविधिसे तजूँ ।
अरु त्रिविध सामायिक चरित सब, निर्विकल्पक आचरूँ ॥१०३॥

अन्वयार्थ : [मे] मेरा [यत् किंचित्] जो कुछ भी [दुश्चरित्रं] दुःचारित्र [सर्वं] उस सर्व को मैं [त्रिविधेन] त्रिविध से (मन-वचन-काया से) [विसृजामि] छोड़ता हूँ [तु] और [त्रिविधं सामायिकं] त्रिविध जो सामायिक (चारित्र) [सर्वं] उस सर्व को [निराकारं करोमि] निराकार (निर्विकल्प) करता हूँ ।

अंतर्मुख परम-तपोधन की भाव-शुद्धि

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।
आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए ॥104॥
समता मुझे सब जीव प्रति वैर न किसीके प्रति रहा ।
मैं छोड़ आशा सर्वतः धारण समाधि कर रहा ॥१०४॥

अन्वयार्थ : [सर्वभूतेषु] सर्व जीवों के प्रति [मे] मुझे [साम्यं] समता है, [मह्यं] मुझे [केनचित्] किसी के साथ [वैरं न] वैर नहीं है; [नूनम्] वास्तव में [आशाम् उत्सृज्य] आशा को छोड़कर [समाधिः प्रतिपद्यते] मैं समाधि को प्राप्त करता हूँ ।

निश्चय-प्रत्याख्यान के योग्य जीव का स्वरूप

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो ।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥105॥
जो शूर एवं दान्त है, अकषाय उद्यमवान है ।
भव-भीरु है, होता उसे ही सुखद प्रत्याख्यान है ॥१०५॥

अन्वयार्थ : [निःकषायस्य] जो निःकषाय है, [दान्तस्य] दान्त (संयमी) है, [शूरस्य] शूरवीर है, [व्यवसायिनः] व्यवसायी (शुद्धता के प्रति उद्यमवन्त) है और [संसारभयभीतस्य] संसार से भयभीत है, उसे [सुखं प्रत्याख्यानं] सुखमय प्रत्याख्यान (अर्थात् निश्चय-प्रत्याख्यान) [भवेत्] होता है ।

निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकार का उपसंहार

एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं ।
पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदुं सो संजदो णियमा ॥106॥
यों जीव कर्म विभेद अभ्यासी रहे जो नित्य ही ।
है संयमी जन नियत प्रत्याख्यान-धारण क्षम वही ॥१०६॥

अन्वयार्थ : [एवं] इसप्रकार [यः] जो [नित्यम्] सदा [जीवकर्मणोः] जीव और कर्म के [भेदाभ्यासं] भेद का अभ्यास [करोति] करता है, [सः संयतः] वह संयत [नियमात्] नियम से [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान [धर्तुं] धारण करने को [शक्तः] शक्तिमान है ।

निश्चय-आलोचना का स्वरूप

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं ।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि ॥107॥
नोकर्म, कर्म, विभाव, गुण पर्याय विरहित आतमा ।
ध्याता उसे, उस श्रमणको होती परम-आलोचना ॥१०७॥
अन्वयार्थ : [नोकर्मकर्मरहितं] नोकर्म और कर्म से रहित तथा [विभावगुणपर्ययैः व्यतिरिक्तम्] विभाव गुण-पर्यायों से व्यतिरिक्त [आत्मानं] आत्माको[यः] जो [ध्यायति] ध्याता है, [श्रमणस्य] उस श्रमण को [आलोचना] आलोचना [भवति] है ।

आलोचना के स्वरूप के भेद

आलोयणमालुंछण वियडीकरणं च भावसुद्धी य ।
चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए ॥108॥
है शास्त्र में वर्णित चतुर्विधरूप में आलोचना ।
आलोचना, अविकृतिकरण, अरु शुद्धता, आलुंछना ॥१०८॥
अन्वयार्थ : [इह] अब, [आलोचनलक्षणं] आलोचना का स्वरूप [आलोचनम्] १आलोचन, [आलुंछनम्] १आलुंछन, [अविकृतिकरणम्] १अविकृतिकरण [च] और [भावशुद्धिः च] १भावशुद्धि [चतुर्विधं] ऐसे चार प्रकार का [समये] शास्त्र में [परिकथितम्] कहा है ।
१स्वयं अपने दोषों को सूक्ष्मता से देख लेना अथवा गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना सो व्यवहार-आलोचन है । निश्चय-आलोचन का स्वरूप १०९ वीं गाथा में कहा जायेगा
२आलुंछन = (दोषों का) आलुंचन अर्थात् उखाड़ देना
३अविकृतिकरण = विकार-रहितता करना
४भावशुद्धि = भावोंको शुद्ध करना

आलोचन

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं ।
आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवएसं ॥109॥
समभावमें परिणाम स्थापे और देखे आतमा ।
जिनवर वृषभ उपदेशमें वह जीव है आलोचना ॥१०९॥
अन्वयार्थ : [यः] जो (जीव) [परिणामम्] परिणाम को [समभावे] समभाव में [संस्थाप्य] स्थापकर [आत्मानं] (निज) आत्मा को [पश्यति] देखता है, [आलोचनम्] वह आलोचन है । [इति] ऐसा [परमजिनेन्द्रस्य] परम जिनेन्द्र का [उपदेशम्] उपदेश [जानीहि] जान ।

आलुंछन

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो ।
साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं ॥110॥
जो कर्म-तरु-जड़ नाश के सामर्थ्यरूप स्वभाव है ।
स्वाधीन निज समभाव आलुंछन वही परिणाम है ॥११०॥
अन्वयार्थ : [कर्ममहीरुहमूलछेदसमर्थः] कर्मरूपी वृक्ष का मूल छेदने में समर्थ ऐसा जो [समभावः] समभावरूप [स्वाधीनः] स्वाधीन [स्वकीयपरिणामः] निज परिणाम [आलुंछनम् इति समुद्दिष्टम्] उसे आलुञ्छन कहा है ।

अविकृतिकरण

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं ।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं ति विण्णेयं ॥111॥

निर्मलगुणाकर कर्म-विरहित अनुभवन जो आत्म का ।
माध्यस्थ भावों में करे, अविकृतिकरण उसे कहा ॥१११॥

अन्वयार्थ : [मध्यस्थभावनायाम्] जो मध्यस्थ भावना में [कर्मणः भिन्नम्] कर्म से भिन्न [आत्मानं] आत्मा को [विमलगुणनिलयं] कि जो विमलगुणों का निवास है उसे [भावयति] भाता है, [अविकृतिकरणम् इति विज्ञेयम्] उस जीव को अविकृतिकरण जानना ।

भावशुद्धि

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धित्ति ।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥112॥
अर्हंत लोकालोक दृष्टा का कथन है भव्य को ।
'है भावशुद्धि मान, माया, लोभ, मद बिन भाव जो' ॥११२॥

अन्वयार्थ : [मदमानमायालोभविवर्जितभावः तु] मद (मदन), मान, माया और लोभ रहित भाव वह [भावशुद्धिः] भावशुद्धि है [इति] ऐसा [भव्यानाम्] भव्यों को [लोकालोकप्रदर्शिभिः] लोकालोक के द्रष्टाओं ने [परिकथितः] कहा है ।

निश्चय-प्रायश्चित्त का स्वरूप

वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो ।
सो हवदि पायछित्तं अणवरयं चेव कायव्वो ॥113॥
कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं ।
पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिंता य णिच्छयदो ॥114॥
व्रत, समिति, संयम, शील, इन्द्रियरोध का जो भाव है ।
वह भाव प्रायश्चित्त है, अरु अनवरत कर्तव्य है ॥११३॥
क्रोधादि आत्म-विभाव के क्षय आदि की जो भावना ।
है नियत प्रायश्चित्त वह जिसमें स्वगुण की चिंतना ॥११४॥

अन्वयार्थ : [व्रतसमितिशीलसंयमपरिणामः] व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणाम तथा [करणनिग्रहः भावः] इन्द्रिय निग्रहरूप भाव [सः] वह [प्रायश्चित्तम्] प्रायश्चित्त [भवति] है [च एव] और वह [अनवरतं] निरंतर [कर्तव्यः] कर्तव्य है ।
[क्रोधादिस्वकीयभावक्षयप्रभृतिभावनायां] क्रोधआदि स्वकीय भावों के (अपने विभावभावों के) क्षयादिक की भावना में [निर्ग्रहणम्] रहना [च] और [निजगुणचिन्ता] निज गुणों का चिंतन करना वह [निश्चयतः] निश्चय से [प्रायश्चित्तं भणितम्] प्रायश्चित्त कहा है ।

चार कषायों पर विजय प्राप्त करने का उपाय

कोहं खमया माणं समद्दवेणज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चहुविहकसाए ॥115॥
अभिमान मार्दव से तथा जीते क्षमा से क्रोध को ।
कौटिल्य आर्जव से तथा संतोष द्वारा लोभ को ॥११५॥

अन्वयार्थ : [क्रोधं क्षमया] क्रोध को क्षमा से, [मानंस्वमार्दवेन] मान को निज मार्दव से, [मायां च आर्जवेन] माया को आर्जव से [च] तथा [लोभं संतोषेण] लोभ को संतोष से, [चतुर्विधकषायान्] इसप्रकार चतुर्विध कषायों को [खलु जयति] (योगी) वास्तव में जीतते हैं ।

शुद्ध ज्ञान के स्वीकारवाले को प्रायश्चित्त है

उक्किट्ठो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं ।
जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स ॥116॥
उत्कृष्ट निज अवबोध अथवा ज्ञान अथवा चित्त को ।

धारे मुनि जो पालता वह नित्य प्रायश्चित्त को ॥११६॥

अन्वयार्थ : [तस्य एव आत्मनः] उसी (अनन्तधर्मवाले)आत्माका [यः] जो [उत्कृष्टः बोधः] उत्कृष्ट बोध, [ज्ञानम्] ज्ञान अथवा [चित्तम्] चित्त उसे [यः मुनिः] जो मुनि [नित्यं धरति] नित्य धारण करता है, [तस्य] उसे [प्रायश्चित्तम् भवेत्] प्रायश्चित्त है ।

परम तपश्चरण में लीन परम जिनयोगीश्वरों को निश्चय-प्रायश्चित्त

किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं ।

पायच्छित्तं जाणह अणेयकम्माण खयहेऊ ॥117॥

बहु कथन से क्या जो अनेकों कर्म-क्षय का हेतु है ।

उत्तम तपश्चर्या ऋषि की सर्व प्रायश्चित्त है ॥११७॥

अन्वयार्थ : [बहुना] बहुत [भणितेन तु] कहने से [किम्] क्या ? [अनेककर्मणाम्] अनेक कर्मों के [क्षयहेतुः] क्षय का हेतु ऐसा जो [महर्षीणाम्] महर्षियों का [वरतपश्चरणम्] उत्तम तपश्चरण [सर्वम्] वह सब [प्रायश्चित्तं जानीहि] प्रायश्चित्त जान ।

कारण परमात्म तत्त्व में सदा अन्तर्मुख रहकर जो प्रतपन वह तप प्रायश्चित्त

णंताणंतभवेण समज्जियसुहअसुहकम्मसंदोहो ।

तवचरणेण विणस्सदि पायच्छित्तं तवं तम्हा ॥118॥

अर्जित अनन्तानन्त भव के जो शुभाशुभ कर्म हैं ।

तप से विनश जाते सुतप अतएव प्रायश्चित्त है ॥११८॥

अन्वयार्थ : [अनन्तानन्तभवेन] अनन्तानन्त भवों द्वारा [समर्जितशुभाशुभकर्मसंदोहः] उपार्जित शुभाशुभ कर्मराशि [तपश्चरणेन] तपश्चरण से [विनश्यति] नष्ट होती है; [तस्मात्] इसलिये [तपः] तप [प्रायश्चितम्] प्रायश्चित्त है ।

निश्चय धर्मध्यान ही सर्व भावों का अभाव करने में समर्थ

अप्पसरूवालंबणभावेण दु सव्वभावपरिहारं ।

सक्कदि कादुं जीवो तम्हा झाणं हवे सव्वं ॥119॥

शुद्धात्म आश्रित भावसे सब भावका परिहार रे ।

यह जीव कर सकता अतः सर्वस्व है वह ध्यान रे ॥११९॥

अन्वयार्थ : [आत्मस्वरूपालम्बनभावेन तु] आत्म-स्वरूप जिसका आलम्बन है ऐसे भाव से [जीवः] जीव [सर्वभावपरिहारं] सर्व-भावों का परिहार [कर्तुम् शक्नोति] कर सकता है, [तस्मात्] इसलिये [ध्यानम्] ध्यान वह [सर्वम् भवेत्] सर्वस्व है ।

शुद्धनिश्चय-नियम का स्वरूप

सुहअसुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा ।

अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा ॥120॥

शुभ-अशुभरचना वचन की, परित्याग कर रागादि का ।

उसको नियम से है नियम जो ध्यान करता आत्म का ॥१२०॥

अन्वयार्थ : [शुभाशुभवचनरचनानाम्] शुभाशुभ वचन-रचना का और [रागादिभाववारणम्] रागादिभावों का निवारण [कृत्वा] करके [यः] जो [आत्मानम्] आत्मा को [ध्यायति] ध्याता है, [तस्य तु] उसे [नियमात्] नियम से (निश्चितरूप से) [नियमः भवेत्] नियम है ।

निश्चय-कायोत्सर्ग का स्वरूप

कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं ।

तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्वियप्पेण ॥121॥

परद्रव्य काया आदि से परित्याग स्थैर्य, निजात्म को ।
ध्याता विकल्प विमुक्त, उसको नियत कायोत्सर्ग है ॥१२१॥
अन्वयार्थ : [कायादिपरद्रव्ये] कायादि परद्रव्य में [स्थिर-भावम् परिहृत्य] स्थिरभाव छोड़कर [यः] जो [आत्मानम्] आत्मा को [निर्विकल्पेन] निर्विकल्परूप से [ध्यायति] ध्याता है, [तस्य] उसे [तनूत्सर्गः] कायोत्सर्ग [भवेत्] है ।

परम समाधि का स्वरूप

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण ।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥122॥
रे त्याग वचनोच्चार किरिया, वीतरागी भाव से ।
ध्यावे निजात्मा जो, समाधि परम होती है उसे ॥१२२॥
अन्वयार्थ : [वचनोच्चारणक्रियां] वचनोच्चारण की क्रिया [परित्यज्य] परित्याग कर [वीतरागभावेन] वीतराग भाव से [यः] जो [आत्मानं] आत्मा को [ध्यायति] ध्याता है, [तस्य] उसे [परमसमाधिः] परम समाधि [भवेत्] है ।

समाधि का लक्षण

संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण ।
जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥123॥
संयम नियम तप से तथा रे धर्म-शुक्ल सुध्यान से
ध्यावे निजात्मा जो परम होती समाधि है उसे ॥१२३॥
अन्वयार्थ : [संयमनियमतपसा तु] संयम, नियम और तप से तथा [धर्मध्यानेन शुक्लध्यानेन] धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान से [यः] जो [आत्मानं] आत्मा को [ध्यायति] ध्याता है, [तस्य] उसे [परमसमाधिः] परम समाधि [भवेत्] है ।

समता-रहित श्रमण को कुछ भी कार्यकारी नहीं

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्तउववासो ।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहियस्स समणस्स ॥124॥
वनवास, कायाक्लेशरूप अनेक विध उपवास से ।
वा अध्ययन मौनादि से क्या ! साम्यविरहित साधु के ॥१२४॥
अन्वयार्थ : [वनवासः] वनवास, [कायक्लेशःविचित्रोपवासः] काय-क्लेशरूप अनेक प्रकार के उपवास, [अध्ययनमौनप्रभृतयः] अध्ययन, मौन आदि (कार्य) [समतारहितस्य श्रमणस्य] समता-रहित श्रमण को [किं करिष्यति] क्या (लाभ) करते हैं ?

किस मुनि को सामायिक व्रत स्थायी है?

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥125॥
सावद्यविरत, त्रिगुप्तमय अरु पिहितइन्द्रिय जो रहे ।
स्थायी सामायिक है उसे, यों केवलीशासन कहे ॥१२५॥
अन्वयार्थ : [सर्वसावद्ये विरतः] जो सर्व सावद्य में विरत है,[त्रिगुप्तः] जो तीन गुप्तिवाला है और [पिहितेन्द्रियः] जिसने इन्द्रियों को बन्द (निरुद्ध) किया है, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायि] स्थायी है । [इतिकेवलिशासने] ऐसा केवली के शासन में कहा है ।

परम मुमुक्षु का स्वरूप

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा ।

तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥126॥
स्थावर तथा त्रस सर्व जीवसमूह प्रति समता लहे ।
स्थायी सामायिक है उसे, यों केवली शासन कहे ॥१२६॥
अन्वयार्थ : [यः] जो [स्थावरेषु] स्थावर [वा] अथवा [त्रसेषु] त्रस [सर्वभूतेषु] सर्व जीवों के प्रति [समः] समभाववाला है, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायि] स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवली के शासन में कहा है ।

आत्मा ही उपादेय है

जस्स संणिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥127॥
संयम-नियम-तप में अहो ! आत्मा समीप जिसे रहे ।
स्थायी सामायिक है उसे, यों केवली शासन कहे ॥१२७॥
अन्वयार्थ : [यस्य] जिसे [संयमे] संयम में, [नियमे] नियम में और [तपसि] तपमें [आत्मा] आत्मा [सन्निहितः] समीप है, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायि] स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवली के शासन में कहा है ।

रागद्वेष के अभाव से अपरिस्पंदरूपता

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेइ दु ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥128॥
नहिं राग अथवा द्वेषसे जो संयमी विकृति लहे ।
स्थायी सामायिक है उसे, यों केवलीशासन कहे ॥१२८॥
अन्वयार्थ : [यस्य] जिसे [रागः तु] राग या [द्वेषः तु] द्वेष (उत्पन्न न होता हुआ) [विकृतिं] विकृति [न तु जनयति] उत्पन्न नहीं करता, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायि] स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवली के शासन में कहा है ।

आर्त और रौद्र ध्यान के परित्याग द्वारा सामायिक-व्रत

जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं वज्जेदि णिच्चसो ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥129॥
रे ! आर्त्त - रौद्र दुध्यान का नित ही जिसे वर्जन रहे ।
स्थायी सामायिक है उसे, यों केवलीशासन कहे ॥१२९॥
अन्वयार्थ : [यः तु] जो [आर्त्तं] आर्त [च] और [रौद्रं च] रौद्र [ध्यानं] ध्यान को [नित्यशः] नित्य [वर्जयति] वर्जता है, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायि] स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवली के शासन में कहा है ।

सुकृत-दुष्कृतरूप कर्म के संन्यास की विधि

जो दु पुण्णं च पावं च भावं वज्जेदि णिच्चसो ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥130॥
जो पुण्य-पाप विभावभावों का सदा वर्जन करे ।
स्थायी समायिक है उसे, यों केवलीशासन कहे ॥१३०॥
अन्वयार्थ : [यः तु] जो [पुण्यं च] पुण्य तथा [पापं भावंच] पापरूप भाव को [नित्यशः] नित्य [वर्जयति] वर्जता है, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायी] स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवली के शासन में कहा है ।

नौ नोकषाय की विजय

जो दु हस्सं रई सोगं अरतिं वज्जेदि णिच्चसो ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥131॥
जो दुगंछा भयं वेदं सव्वं वज्जेदि णिच्चसो ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥132॥
जो नित्य वर्जे हास्य, अरु रति, अरति, शोक-विरत रहे ।
स्थायी समायिक है उसे, यों केवलीशासन कहे ॥१३१॥
जो नित्य वर्जे भय जुगुप्सा, सर्व वेद समूह रे ।
स्थायी समायिक है उसे, यों केवलीशासन कहे ॥१३२॥

अन्वयार्थ : [यः तु] जो [हास्यं रतिं शोकं अरतिं] हास्य, रति, शोक और अरति को [नित्यशः वर्जयति] नित्य वर्जता (त्यागता) है, [तस्य सामायिकं स्थायि] उसे सामायिक स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवली के शासन में कहा है ।

[यः जुगुप्सां भयं सर्वं वेदं] जो जुगुप्सा, भय और सर्व वेद को [नित्यशः वर्जयति] नित्य वर्जता है, [तस्य सामायिकं स्थायि] उसे सामायिक स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवली के शासन में कहा है ।

परम-समाधि अधिकार का उपसंहार

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसो ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥133॥
जो नित्य उत्तम धर्म-शुक्ल सुध्यान में ही रत रहे ।
स्थायी समायिक है उसे यों केवलीशासन कहे ॥१३३॥

अन्वयार्थ : [यः तु] जो [धर्मं च] धर्मध्यान [शुक्लं चध्यानं] और शुक्लध्यान को [नित्यशः] नित्य [ध्यायति] ध्याता है, [तस्य] उसे [सामायिकं] सामायिक [स्थायि] स्थायी है [इति केवलिशासने] ऐसा केवली के शासन में कहा है ।

रत्नत्रय का स्वरूप

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो ।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥134॥
सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्रकी श्रावक श्रमण भक्ति करे ।
उसको कहें निर्वाण-भक्ति परम जिनवर देव रे ॥१३४॥

अन्वयार्थ : [यः श्रावकः श्रमणः] जो श्रावक अथवा श्रमण [सम्यक्त्वज्ञानचरणेषु] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की [भक्तिं] भक्ति [करोति] करता है, [तस्य तु] उसे [निर्वृत्तिभक्तिः भवति] निर्वृत्ति-भक्ति (निर्वाण की भक्ति) है [इति] ऐसा [जिनैः प्रज्ञप्तम्] जिनों ने कहा है ।

सिद्ध-भक्ति का स्वरूप

मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि ।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं ॥135॥
जो मुक्तिगत हैं उन पुरुष की भक्ति जो गुणभेद से ।
करता, वही व्यवहार से निर्वाणभक्ति वेद रे ॥१३५॥

अन्वयार्थ : [यः] जो जीव [मोक्षगतपुरुषाणाम्] मोक्षगत पुरुषों का [गुणभेदं] गुणभेद [ज्ञात्वा] जानकर [तेषाम् अपि] उनकी भी [परमभक्तिं] परम भक्ति [करोति] करता है, [व्यवहारनयेन] उस जीव को व्यवहारनय से [परिकथितम्] निर्वाण-भक्ति कही है ।

निज-परमात्मा की भक्ति

मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती ।

तेण दु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं ॥136॥

रे ! जोड़ निज को मुक्तिपथ में भक्ति निर्वृति की करे ।

अतएव वह असहाय-गुण-सम्पन्न निज आत्मा वरे ॥१३६॥

अन्वयार्थ : [मोक्षपथे] मोक्षमार्ग में [आत्मानं] (अपने)आत्मा को [संस्थाप्य च] सम्यक् प्रकार से स्थापित करके [निर्वृत्तेः] निर्वृत्ति की (निर्वाण की) [भक्तिम्] भक्ति [करोति] करता है, [तेन तु] उससे [जीवः] जीव [असहायगुणं] असहाय गुणवाले [निजात्मानम्] निज-आत्मा को [प्राप्नोति] प्राप्त करता है ।

निश्चय-योग-भक्ति

रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।

सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो ॥137॥

रागादि के परिहार में जो साधु जोड़े आतमा ।

है योग की भक्ति उसे; नहि अन्य को सम्भावना ॥१३७॥

अन्वयार्थ : [यः साधु तु] जो साधु [रागादिपरिहारे आत्मानंयुनक्ति] रागादि के परिहार में आत्मा को लगाता है (आत्मा में आत्मा को लगाकर रागादि का त्याग करता है), [सः] वह [योगभक्तियुक्तः] योग-भक्तियुक्त (योग की भक्तिवाला) है; [इतरस्य च] दूसरे को [योगः] योग [कथम्] किसप्रकार [भवेत्] हो सकता है ?

निश्चय - योग भक्ति का स्वरूप

सव्ववियप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।

सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो ॥138॥

सब ही विकल्प अभाव में जो साधु जोड़े आतमा ।

है योग की भक्ति उसे; नहिं अन्य को सम्भावना ॥१३८॥

अन्वयार्थ : [यः साधु तु] जो साधु [सर्वविकल्पाभावेआत्मानं युनक्ति] सर्व विकल्पों के अभाव में आत्मा को लगाता है (आत्मा में आत्मा को जोड़कर सर्व विकल्पों का अभाव करता है), [सः] वह [योगभक्तियुक्तः] योग-भक्तिवाला है; [इतरस्य च] दूसरे को [योगः] योग [कथम्] किसप्रकार [भवेत्] हो सकता है ?

विपरीत अभिनिवेश रहित आत्मभाव ही निश्चय - परमयोग

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु ।

जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो ॥139॥

विपरीत आग्रह छोड़कर, श्री जिन कथित जो तत्त्व हैं ।

जोड़े वहाँ निज आतमा, निजभाव उसका योग है ॥१३९॥

अन्वयार्थ : [विपरीताभिनिवेशं] मिथ्यात्व का [परित्यज्य] परित्याग करके [यः] जो [जैनकथिततत्त्वेषु] जैनकथित तत्त्वों में [आत्मानं] आत्मा को [युनक्ति] लगाता है, [निजभावः] उसका निज भाव [सः योगः भवेत्] वह योग है ।

भक्ति अधिकार का उपसंहार

उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्तिं ।

णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्तिं ॥140॥

वृषभादि जिनवर भक्ति उत्तम इस तरह कर योग की ।
निर्वृति सुख पाया; अतः कर भक्ति उत्तम योग की ॥१४०॥
अन्वयार्थ : [वृषभादिजिनवरेन्द्राः] वृषभादि जिनवरेन्द्र [एवम्] इसप्रकार [योगवरभक्तिम्] योग की उत्तम भक्ति [कृत्वा] करके [निर्वृतिसुखम्] निर्वृति-सुख को [आपन्नाः] प्राप्त हुए; [तस्मात्] इसलिये [योगवरभक्तिम्] योग की उत्तम भक्ति को [धारय] तू धारण कर ।

निरन्तर स्ववश को निश्चय - आवश्यक - कर्म

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ॥141॥
नहिं अन्यवश जो जीव, आवश्यक करम होता उसे ।
यह कर्मनाशक योग ही निर्वाणमार्ग प्रसिद्ध रे ॥१४१॥
अन्वयार्थ : [यः अन्यवशः न भवति] जो अन्यवश नहीं है (जो जीव अन्यके वश नहीं है) [तस्य तु आवश्यकम् कर्म भणन्ति] उसे आवश्यक कर्म कहते हैं (उस जीवको आवश्यक कर्म है ऐसा परम योगीश्वर कहते हैं) । [कर्मविनाशनयोगः] कर्म का विनाश करनेवाला योग (ऐसा जो यह आवश्यककर्म) [निर्वृत्तिमार्गः] वह निर्वाणका मार्ग है [इति प्ररूपितः] ऐसा कहा है ।

अवश परम जिनयोगीश्वर को परम आवश्यक कर्म अवश्य

ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोद्धव्वं ।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती ॥142॥
जो वश नहीं वह 'अवश', आवश्यक अवश का कर्म है ।
वह युक्ति या उपाय है, निरवयव कर्ता धर्म है ॥१४२॥
अन्वयार्थ : [न वशः अवशः] जो (अन्य के) वश नहीं है वह 'अवश' है [वा] और [अवशस्य कर्म] अवश का कर्म वह [आवश्यकम्] 'आवश्यक' है [इति बोद्धव्यम्] ऐसा जानना; [युक्तिः इति] वह (अशरीरी होनेकी) युक्ति है, [उपायः इति च] वह (अशरीर होनेका) उपाय है, [निरवयवः भवति] उससे जीव निरवयव (अर्थात् अशरीर) होता है । [निरुक्तिः] ऐसी निरुक्ति है ।

भेदोपचार - रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को अवशपना नहीं

वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण ।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सयलक्खणं ण हवे ॥143॥
वर्ते अशुभ परिणाममें, वह श्रमण है वश अन्यके ।
अतएव आवश्यकस्वरूप न कर्म होता है उसे ॥१४३॥
अन्वयार्थ : [यः] जो [अशुभभावेन] अशुभ भाव सहित[वर्तते] वर्तता है, [सः श्रमणः] वह श्रमण [अन्यवशः भवति] अन्यवश है; [तस्मात्] इसलिये [तस्य तु] उसे [आवश्यकलक्षणं कर्म] आवश्यक-स्वरूप कर्म [न भवेत्] नहीं है ।

अन्यवश ऐसे अशुद्ध अन्तरात्म जीव का लक्षण

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो ।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे ॥144॥
संयत चरे शुभभाव में, वह श्रमण है वश अन्य के ।
अतएव आवश्यक-स्वरूप न कर्म होता है उसे ॥१४४॥
अन्वयार्थ : [यः] जो (जीव) [संयतः] संयत रहता हुआ [खलु] वास्तव में [शुभभावे] शुभ भाव में [चरति] चरता (प्रवर्तता) है, [सः] वह [अन्यवशः भवेत्] अन्यवश है; [तस्मात्] इसलिये [तस्य तु] उसे [आवश्यकलक्षणं कर्म] आवश्यक-स्वरूप कर्म [न भवेत्] नहीं है ।

अन्यवश का स्वरूप

दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो ।
मोहंधयारववगयसमणा कहयंति एरिसयं ॥145॥
जो जोड़ता चित द्रव्य - गुण - पर्याय चिन्तन में अरे !
रे मोह-विरहित - श्रमण कहते अन्य के वश ही उसे ॥१४५॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [द्रव्यगुणपर्यायाणां] द्रव्य-गुण-पर्यायों में (उनके विकल्पों में) [चित्तं करोति] मन लगाता है, [सः अपि] वह भी [अन्यवशः] अन्यवश है; [मोहान्धकारव्यपगतश्रमणाः] मोहान्धकार रहित श्रमण [ईद्रशम्] ऐसा [कथयन्ति] कहते हैं ।

साक्षात् स्ववश परमजिनयोगीश्वर का स्वरूप

परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं ।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ॥146॥
जो छोड़कर परभाव ध्यावे शुद्ध निर्मल आत्म रे ।
वह आत्मवश है श्रमण, आवश्यक करम होता उसे ॥१४६॥

अन्वयार्थ : [परभावं परित्यज्य] जो परभाव को परित्याग कर [निर्मलस्वभावम्] निर्मल स्वभाववाले [आत्मानं] आत्मा को [ध्यायति] ध्याता है, [सः खलु] वह वास्तवमें [आत्मवशः भवति] आत्मवश है [तस्य तु] और उसे [आवश्यम् कर्म] आवश्यक कर्म [भणन्ति] (जिन) कहते हैं ।

शुद्धनिश्चय - आवश्यक की प्राप्ति का जो उपाय

आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं ।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स ॥147॥
आवश्यका कांक्षी हुआ तू स्थैर्य स्वात्मामें करे ।
होता इसीसे जीव सामायिक सुगुण सम्पूर्ण रे ॥१४७॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि तू [आवश्यकम् इच्छसि] आवश्यक को चाहता है तो तू [आत्मस्वभावेषु] आत्मस्वभावों में [स्थिरभावम्] स्थिरभाव [करोषि] करता है; [तेन तु] उससे [जीवस्य] जीव को [सामायिकगुणं] सामायिकगुण [सम्पूर्णं भवति] सम्पूर्ण होता है ।

शुद्धोपयोग सम्मुख जीव को शिक्षा

आवासएण हीणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो ।
पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा ॥148॥
रे श्रमण आवश्यक - रहित चारित्र से प्रभ्रष्ट है ।
अतएव आवश्यक करम पूर्वोक्त विधि से इष्ट है ॥१४८॥

अन्वयार्थ : [आवश्यकेन हीनः] आवश्यक रहित [श्रमणः] श्रमण [चरणतः] चरण से [प्रभ्रष्टः भवति] प्रभ्रष्ट (अति भ्रष्ट) है; [तस्मात् पुनः] और इसलिये [पूर्वोक्तक्रमेण] पूर्वोक्त क्रम से (पहले कही हुई विधि से) [आवश्यकं कुर्यात्] आवश्यक करना चाहिये ।

आवश्यक कर्म के अभाव में तपोधन बहिरात्मा

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा ।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ॥149॥
रे साधु आवश्यकसहित वह अन्तरात्मा जानिये ।
इससे रहित हो साधु जो बहिरातमा पहिचानिये ॥१४९॥

अन्वयार्थ : [आवश्यकेन युक्तः] आवश्यक सहित[श्रमणः] श्रमण [सः] वह [अंतरंगात्मा] अन्तरात्मा [भवति] है; [आवश्यकपरिहीणः] आवश्यक रहित [श्रमणः] श्रमण [सः] वह [बहिरात्मा] बहिरात्मा [भवति] है ।

बाह्य तथा अन्तर जल्प का खण्डन

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।

जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥150॥

जो बाह्य अन्तर जल्पमें वर्ते वही बहिरातमा ।

जो जल्पमें वर्ते नहिं वह जीव अन्तरआतमा ॥१५०॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [अन्तरबाह्यजल्पे] अन्तर्बाह्य जल्प में [वर्तते] वर्तता है, [सः] वह [बहिरात्मा] बहिरात्मा [भवति] है; [यः] जो [जल्पेषु] जल्पों में [न वर्तते] नहीं वर्तता, [सः] वह [अन्तरंगात्मा] अन्तरात्मा [उच्यते] कहलाता है ।

स्वात्माश्रित धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही उपादेय

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा ।

झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥151॥

रे धर्म-शुक्ल-सुध्यान-परिणत अन्तरात्मा जानिये ।

अरु ध्यान विरहित श्रमण को बहिरातमा पहिचानिये ॥१५१॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [धर्मशुक्लध्यानयोः] धर्मध्यानऔर शुक्लध्यान में [परिणतः] परिणत है [सः अपि] वह भी [अन्तरंगात्मा] अन्तरात्मा है; [ध्यानविहीनः] ध्यानविहीन [श्रमणः] श्रमण [बहिरात्मा] बहिरात्मा है [इति विजानीहि] ऐसा जान ।

परम वीतराग चारित्र में स्थित परम तपोधन

पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं ।

तेण दु विरागचरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि ॥152॥

प्रतिक्रमण आदिक्रिया तथा चारित्रनिश्चय आचरे ।

अतएव मुनि वह वीतराग - चरित्र में स्थिरता करे ॥१५२॥

अन्वयार्थ : [प्रतिक्रमणप्रभृतिक्रियां] प्रतिक्रमणादि क्रिया को, [निश्चयस्य चारित्रम्] निश्चय के चारित्र को, [कुर्वन्] (निरन्तर) करता रहता है [तेनतु] इसलिये [श्रमणः] वह श्रमण [विरागचरिते] वीतराग चारित्र में [अभ्युत्थितः भवति] आरूढ़ है ।

समस्त वचन सम्बन्धी व्यापार का खण्डन

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पच्चखाण णियमं च ।

आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झायं ॥153॥

रे ! वचनमय प्रतिक्रमण, वाचिक-नियम, प्रत्याख्यान ये ।

आलोचना वाचिक, सभीको जान तू स्वाध्याय रे ॥१५३॥

अन्वयार्थ : [वचनमयं प्रतिक्रमणं] वचनमय प्रतिक्रमण, [वचनमयं प्रत्याख्यानं] वचनमय प्रत्याख्यान, [नियमः] (वचनमय) नियम [च] और [वचनमयम् आलोचनं] वचनमय आलोचना -- [तत् सर्वं] यह सब [स्वाध्यायम्] (प्रशस्त अध्यवसायरूप) स्वाध्याय [जानीहि] जान ।

शुद्ध निश्चय धर्मध्यानस्वरूप प्रतिक्रमणादि ही करने योग्य

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं ।

सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कायव्वं ॥154॥

जो कर सको तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदिक कीजिये ।

यदि शक्ति हो नहिं तो अरे श्रद्धान निश्चय कीजिये ॥१५४॥

अन्वयार्थ : यदि [कर्तुम् शक्यते] किया जा सके तो [अहो] अहो ! [ध्यानमयम्] ध्यानमय [प्रतिक्रमणादिकं] प्रतिक्रमणादि [करोषि] कर; [यदि] यदि [शक्तिविहीनः] तू शक्तिविहीन हो तो [यावत्] तबतक [श्रद्धानं च एव] श्रद्धान ही [कर्तव्यम्] कर्तव्य है ।

साक्षात् अन्तर्मुख परम जिनयोगी को शिक्षा

जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादिय परीक्खऊण फुडं ।

मोणव्वएण जोई णियकज्जं साहए णिच्चं ॥155॥

पूरा परख प्रतिक्रमण आदिक को परम-जिनसूत्र में ।

रे साधिये निज कार्य अविरल साधु ! रत व्रत मौन में ॥१५५॥

अन्वयार्थ : [जिनकथितपरमसूत्रे] जिनकथित परम सूत्र में [प्रतिक्रमणादिकं स्फुटम् परीक्षयित्वा] प्रतिक्रमणादिक की स्पष्ट परीक्षा करके [मौनव्रतेन] मौनव्रत सहित [योगी] योगी को [निजकार्यम्] निज कार्य [नित्यम्] नित्य [साधयेत्] साधना चाहिये ।

वचन-सम्बन्धी व्यापार की निवृत्ति के हेतु का कथन

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी ।

तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥156॥

हैं जीव नाना, कर्म नाना, लब्धि नानाविध कही ।

अतएव ही निज - परसमय के साथ वर्जित वाद भी ॥१५६॥

अन्वयार्थ : [नानाजीवाः] नाना प्रकार के जीव हैं,[नानाकर्म] नाना प्रकार का कर्म है; [नानाविधा लब्धिः भवेत्] नाना प्रकार की लब्धि है; [तस्मात्] इसलिये [स्वपरसमयैः] स्व-समयों तथा परसमयों के साथ (स्वधर्मियों तथा परधर्मियों के साथ) [वचनविवादः] वचन-विवाद [वर्जनीयः] वर्जने योग्य है ।

दृष्टान्त द्वारा सहजतत्त्व की आराधना की विधि

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते ।

तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं ॥157॥

निधि पा मनुज तत्फल वतन में गुप्त रह ज्यों भोगता ।

त्यों छोड़ परजन संग ज्ञानी ज्ञान निधि को भोगता ॥१५७॥

अन्वयार्थ : [एकः] जैसे कोई एक (दरिद्र मनुष्य) [निधिम्] निधि को [लब्ध्वा] पाकर [सुजनत्वेन] अपने वतन में (गुप्तरूपसे) रहकर [तस्य फलम्] उसके फल को [अनुभवति] भोगता है, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी [परततिम्] पर जनों के समूह को [त्यक्त्वा] छोड़कर [ज्ञाननिधिम्] ज्ञाननिधि को [भुंक्ते] भोगता है ।

परमावश्यक अधिकार का उपसंहार

सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं च काऊण ।

अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा ॥158॥

यों सर्व पौराणिक पुरुष आवश्यकों की विधि धरी ।

पाकर अरे अप्रमत्त स्थान हुए नियत प्रभु केवली ॥१५८॥

अन्वयार्थ : [सर्वे] सर्व [पुराणपुरुषाः] पुराण पुरुष [एवम्] इसप्रकार [आवश्यकं च] आवश्यक [कृत्वा] करके, [अप्रमत्तप्रभृतिस्थानं] अप्रमत्तादि स्थान को [प्रतिपद्य च] प्राप्त करके [केवलिनः जाताः] केवली हुए ।

समस्त कर्म के प्रलय के हेतुभूत शुद्धोपयोग का अधिकार

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥159॥
व्यवहार से प्रभु केवली सब जानते अरु देखते ।
निश्चयनयात्मक-द्वार से निज आत्म को प्रभु पेखते ॥१५९॥
अन्वयार्थ : [व्यवहारनयेन] व्यवहारनय से [केवलीभगवान्] केवली भगवान [सर्वं] सब [जानाति पश्यति] जानते हैं और देखते हैं; [नियमेन] निश्चय से [केवलज्ञानी] केवलज्ञानी [आत्मानम्] आत्मा को (स्वयं को) [जानाति पश्यति] जानता है और देखता है ।

दृष्टान्त द्वारा केवलज्ञान और केवलदर्शन का युगपद् वर्तना

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा ।
दिणयरपयासतावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥160॥
ज्यों ताप और प्रकाश रवि के एक सँग ही वर्तते ।
त्यों केवली को ज्ञानदर्शन एक साथ प्रवर्तते ॥१६०॥
अन्वयार्थ : [केवलज्ञानिनः] केवलज्ञानी को [ज्ञानं] ज्ञान [तथा च] तथा [दर्शनं] दर्शन [युगपद्] युगपद् [वर्तते] वर्तते हैं । [दिनकर-प्रकाशतापौ] सूर्य के प्रकाश और ताप [यथा] जिसप्रकार [वर्तेते] (युगपद्) वर्तते हैं [तथा ज्ञातव्यम्] उसी प्रकार जानना ।

आत्मा के स्व-पर प्रकाशकपने सम्बन्धी विरोध-कथन

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव ।
अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि ॥161॥
दर्शन प्रकाशक आत्म का, पर का प्रकाशक ज्ञान है ।
निज-पर प्रकाशक आत्मा, - रे यह विरुद्ध विधान है ॥१६१॥
अन्वयार्थ : [ज्ञानं परप्रकाशं] ज्ञान पर प्रकाशक ही है [च] और [दृष्टिः आत्मप्रकाशिका एव] दर्शन स्व-प्रकाशक ही है [आत्मा स्वपरप्रकाशः भवति] तथा आत्मा स्व-पर प्रकाशक है [इति हि यदि खलु मन्यसे] ऐसा यदि वास्तव में तू मानता हो तो उसमें विरोध आता है ।

पूर्वपक्ष के सिद्धान्त सम्बन्धी कथन

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं ।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥162॥
पर ही प्रकाशे ज्ञान तो हो ज्ञान से दृग् भिन्न रे ।
'परद्रव्यगत नहिं दर्श !' वर्णित पूर्व तव मंतव्य रे ॥१६२॥
अन्वयार्थ : [ज्ञानं परप्रकाशं] यदि ज्ञान (केवल) पर-प्रकाशक हो [तदा] तो [ज्ञानेन] ज्ञान से [दर्शनं] दर्शन [भिन्नम्] भिन्न सिद्ध होगा, [दर्शनम् परद्रव्यगतं न भवति इति वर्णितं तस्मात्] क्योंकि दर्शन पर-द्रव्यगत (पर-प्रकाशक) नहीं है ऐसा (पूर्व सूत्रमें तेरा मन्तव्य) वर्णन किया गया है ।

एकान्त से आत्मा को पर-प्रकाशकपना का खण्डन

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं ।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥163॥
पर ही प्रकाशे जीव तो हो आत्म से दृग् भिन्न रे ।
पर-द्रव्यगत नहिं दर्श वर्णित पूर्व तव मंतव्य रे ॥१६३॥
अन्वयार्थ : [आत्मा परप्रकाशः] यदि आत्मा (केवल) पर-प्रकाशक हो [तदा] तो [आत्मना] आत्मा से [दर्शनं] दर्शन [भिन्नम्] भिन्न सिद्ध

होगा, [दर्शनं परद्रव्यगतं न भवति इति वर्णितं तस्मात्] क्योंकि दर्शन पर-द्रव्यगत (पर-प्रकाशक) नहीं है ऐसा (पहले तेरा मंतव्य) वर्णन किया गया है ।

व्यवहारनय की सफलता

णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा ।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दंसणं तम्हा ॥164॥
व्यवहार से है ज्ञान परगत, दर्श भी अतएव है ।
व्यवहार से है जीव परगत, दर्श भी अतएव है ॥१६४॥
अन्वयार्थ : [व्यवहारनयेन] व्यवहारनय से [ज्ञानं] ज्ञान [परप्रकाशं] परप्रकाशक है; [तस्मात्] इसलिये [दर्शनम्] दर्शन पर-प्रकाशक है । [व्यवहारनयेन] व्यवहारनय से [आत्मा] आत्मा [परप्रकाशः] पर-प्रकाशक है; [तस्मात्] इसलिये [दर्शनम्] दर्शन पर-प्रकाशक है ।

निश्चयनय से स्वरूप का कथन

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ॥165॥
है ज्ञान निश्चय निजप्रकाशक, इसलिये त्यों दर्श है ।
है जीव निश्चय निजप्रकाशक, इसलिये त्यों दर्श है ॥१६५॥
अन्वयार्थ : [निश्चयनयेन] निश्चयनय से [ज्ञानम्] ज्ञान[आत्मप्रकाशं] स्व-प्रकाशक है; [तस्मात्] इसलिये [दर्शनम्] दर्शन स्व-प्रकाशक है । [निश्चयनयेन] निश्चयनय से [आत्मा] आत्मा [आत्मप्रकाशः] स्व-प्रकाशक है; [तस्मात्] इसलिये [दर्शनम्] दर्शन स्व-प्रकाशक है ।

शुद्धनिश्चयनय से पर-दर्शन का खण्डन

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं ।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥166॥
प्रभु केवली निजरूप देखें और लोकालोक ना ।
यदि कोइ यों कहता अरे उसमें कहो है दोष क्या ? ॥१६६॥
अन्वयार्थ : [केवली भगवान्] (निश्चय से) केवली भगवान [आत्मस्वरूपं] आत्म-स्वरूप को [पश्यति] देखते हैं, [न लोकालोकौ] लोकालोक को नहीं -- [एवं] ऐसा [यदि] यदि [कः अपि भणति] कोई कहे तो [तस्यच किं दूषणं भवति] उसे क्या दोष है ?

केवलज्ञान का स्वरूप

मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च ।
पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ ॥167॥
जो मूर्त और अमूर्त जड़ चेतन स्वपर सब द्रव्य हैं ।
देखे उन्हें उसको अतीन्द्रिय ज्ञान है, प्रत्यक्ष है ॥१६७॥
अन्वयार्थ : [मूर्तम् अमूर्तम्] मूर्त-अमूर्त [चेतनम् इतरत्] चेतन-अचेतन [द्रव्यं] द्रव्यों को, [स्वकं च सर्वं च] स्व को तथा समस्त को [पश्यतःतु] देखनेवाले (जाननेवाले का) [ज्ञानम्] ज्ञान [अतीन्द्रियं] अतीन्द्रिय है, [प्रत्यक्षम् भवति] प्रत्यक्ष है ।

केवलदर्शन के अभाव में सर्वज्ञपना नहीं

पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तं ।
जो ण य पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स ॥168॥
जो विविध गुण पर्याय से संयुक्त सारी सृष्टि है ।

देखे न जो सम्यक् प्रकार, परोक्ष रे वह दृष्टि है ॥१६८॥
अन्वयार्थ : [नानागुणपर्यायेण संयुक्तम्] विविध गुणों और पर्यायों से संयुक्त [पूर्वोक्तसकलद्रव्यं] पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को [यः] जो [सम्यक्] सम्यक् प्रकारसे (बराबर) [न च पश्यति] नहीं देखता, [तस्य] उसे [परोक्षदृष्टिः भवेत्] परोक्ष दर्शन है ।

व्यवहारनय की प्रगटता

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं ।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥169॥
'भगवान केवलि लोक और अलोक जाने, आत्मना' ।
यदि कोई यों कहता अरे उसमें कहो है दोष क्या ? ॥१६९॥
अन्वयार्थ : [केवली भगवान्] (व्यवहार से) केवली भगवान [लोकालोकौ] लोकालोक को [जानाति] जानते हैं, [न एव आत्मानम्] आत्मा को नहीं - [एवं] ऐसा [यदि] यदि [कः अपि भणति] कोई कहे तो [तस्य चकिं दूषणं भवति] उसे क्या दोष है ?

'जीव ज्ञान-स्वरूप है' ऐसा वितर्क से कथन

णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा ।
अप्पाणं ण वि जाणदि अप्पादो होदि विदिरित्तं ॥170॥
है ज्ञान जीवस्वरूप, इससे जीव जाने जीव को ।
निज को न जाने ज्ञान तो वह आतमा से भिन्न हो ॥१७०॥
अन्वयार्थ : [ज्ञानं] ज्ञान [जीवस्वरूपं] जीव का स्वरूप है,[तस्मात्] इसलिये [आत्मा] आत्मा [आत्मकं] आत्मा को [जानाति] जानता है; [आत्मानं न अपि जानाति] यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो [आत्मनः] आत्मा से [व्यतिरिक्तम्] व्यतिरिक्त (पृथक्) [भवति] सिद्ध हो !

गुण-गुणी में भेद का अभाव होनेरूप स्वरूप का कथन

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो ।
तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि ॥171॥
संदेह नहिं, है ज्ञान आत्मा, आतमा है ज्ञान रे ।
अतएव निजपर के प्रकाशक ज्ञान-दर्शन मान रे ॥१७१॥
अन्वयार्थ : [आत्मानं ज्ञानं विद्धि] आत्मा को ज्ञान जान, और [ज्ञानम् आत्मकः विद्धि] ज्ञान आत्मा है ऐसा जान; -- [न संदेहः] इसमें संदेह नहीं है । [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं] ज्ञान [तथा] तथा [दर्शनं] दर्शन [स्वपरप्रकाशं] स्व-पर प्रकाशक [भवति] है ।

सर्वज्ञ वीतराग को वांछा का अभाव

जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो ।
केवलिणाणी तम्हा तेण दु सोऽबंधगो भणिदो ॥172॥
जानें तथा देखें तदपि इच्छा विना भगवान है ।
अतएव 'केवलज्ञानी' वे अतएव ही 'निर्बन्ध' है ॥१७२॥
अन्वयार्थ : [जानन् पश्यन्] जानते और देखते हुए भी,[केवलिनः] केवली को [ईहापूर्वं] इच्छापूर्वक (वर्तन) [न भवति] नहीं होता; [तस्मात्] इसलिये उन्हें [केवलज्ञानी] 'केवलज्ञानी' कहा है; [तेन तु] और इसलिये [सः अबन्धकः भणितः] अबन्धक कहा है ।

वास्तव में ज्ञानी को बन्ध के अभाव

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ ।
परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥173॥

ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होइ ।
ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥174॥
रे बन्ध कारण जीव को परिणामपूर्वक वचन हैं ।
है बन्ध ज्ञानी को नहीं परिणाम विरहित वचन है ॥१७३॥
है बन्ध कारण जीव को इच्छा सहित वाणी अरे ।
इच्छा रहित वाणी अतः ही बन्ध नहिं ज्ञानी करे ॥१७४॥
अन्वयार्थ : [परिणामपूर्ववचनं] परिणाम-पूर्वक (मन-परिणाम पूर्वक) वचन [जीवस्य च] जीव को [बंधकारणं] बन्ध का कारण [भवति] है; [परिणामरहितवचनं] (ज्ञानी को) परिणाम-रहित वचन होता है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानिनः] ज्ञानी को [हि] वास्तव में [बंधः न] बंध नहीं है ।
[ईहापूर्वं] इच्छापूर्वक [वचनं] वचन [जीवस्य च] जीव को [बंधकारणं] बन्ध का कारण [भवति] है; [ईहारहितं वचनं] (ज्ञानी को) इच्छा-रहित वचन होता है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानिनः] ज्ञानी को [हि] वास्तव में [बंधः न] बंध नहीं है ।

केवली को मन-रहितपना

ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो ।
तम्हा ण होइ बंधो साक्खट्ठं मोहणीयस्स ॥175॥
अभिलाषयुक्त विहार, आसन, स्थान जिनवर को नहीं ।
निर्बन्ध इससे, बन्ध करता मोह-वश साक्षार्थ ही ॥१७५॥
अन्वयार्थ : [केवलिनः] केवली को [स्थाननिषण्णविहाराः] खड़े रहना, बैठना और विहार [ईहापूर्वं] इच्छापूर्वक [न भवन्ति] नहीं होते, [तस्मात्] इसलिये [बंध न भवति] उन्हें बन्ध नहीं है; [मोहनीयस्य] मोहनीयवश जीव को [साक्षार्थम्] इन्द्रिय-विषय सहितरूप से बन्ध होता है ।

शुद्ध जीव को स्वभावगति की प्राप्ति होने का उपाय

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं ।
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समयमेत्तेण ॥176॥
हो आयुक्षय से शेष सब ही कर्मप्रकृति विनाश रे ।
सत्वर समय में पहुँचते अर्हन्तप्रभु लोकाग्र रे ॥१७६॥
अन्वयार्थ : [पुनः] फिर (केवली को) [आयुषः क्षयेण] आयु के क्षय से [शेषप्रकृतीनाम्] शेष प्रकृतियों का [निर्नाशः] सम्पूर्ण नाश [भवति] होता है; [पश्चात्] फिर वे [शीघ्रं] शीघ्र [समयमात्रेण] समयमात्र में [लोकाग्रं] लोकाग्र में [प्राप्नोति] पहुँचते हैं ।

कारण-परमतत्त्व का स्वरूप

जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं ।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ॥177॥
विन कर्म, परम, विशुद्ध, जन्म-जरा-मरण से हीन है ।
ज्ञानादि चार स्वभावमय, अक्षय, अछेद, अछीन है ॥१७७॥
अन्वयार्थ : (परमात्मतत्त्व) [जातिजरामरणरहितम्] जन्म -जरा - मरण रहित, [परमम्] परम, [कर्माष्टवर्जितम्] आठ कर्म रहित, [शुद्धम्] शुद्ध,[ज्ञानादि-चतुःस्वभावम्] ज्ञानादिक चार स्वभाववाला, [अक्षयम्] अक्षय, [अविनाशम्] अविनाशी और [अच्छेद्यम्] अच्छेद्य है ।

परमात्म तत्त्व निरुपाधि स्वरूप

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं ।

पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं ॥178॥
निर्बाध, अनुपम अरु अतीन्द्रिय, पुण्य-पाप विहीन है ।
निश्चल, निरालम्बन, अमर-पुनरागमन से हीन है ॥१७८॥
अन्वयार्थ : (परमात्मतत्त्व) [अव्याबाधम्] अव्याबाध,[अतीन्द्रियम्] अतीन्द्रिय, [अनुपमम्] अनुपम, [पुण्यपापनिर्मुक्तम्] पुण्यपाप रहित, [पुनरागमन-विरहितम्] पुनरागमन रहित, [नित्यम्] नित्य, [अचलम्] अचल और [अनालंबम्] निरालम्ब है ।

परमतत्त्व में सांसारिक विकारसमूह का अभाव

णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा ।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥179॥
दुख-सुख नहीं, पीड़ा जहाँ नहिं और बाधा है नहीं ।
नहिं जन्म है, नहिं मरण है, निर्वाण जानों रे वहीं ॥१७९॥
अन्वयार्थ : [न अपि दुःखं] जहाँ दुःख नहीं है, [न अपिसौख्यं] सुख नहीं है, [न अपि पीड़ा] पीड़ा नहीं है, [न एव बाधा विद्यते] बाधा नहीं है, [न अपि मरणं] मरण नहीं है, [न अपि जननं] जन्म नहीं है, [तत्र एव च निर्वाणम् भवति] वहीं निर्वाण है (अर्थात् दुःखादिरहित परमतत्त्व में ही निर्वाण है) ।

परमतत्त्व का स्वरूप

णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हिओ ण णिद्दा य ।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥180॥
इन्द्रिय जहाँ नहिं, मोह नहिं, उपसर्ग, विस्मय भी नहीं ।
निद्रा, क्षुधा, तृष्णा नहीं, निर्वाण जानो रे वहीं ॥१८०॥
अन्वयार्थ : [न अपि इन्द्रियाः उपसर्गाः] जहाँ इन्द्रियाँ नहींहैं, उपसर्ग नहीं हैं, [न अपि मोहः विस्मयः] मोह नहीं है, विस्मय नहीं है, [न निद्रा च] निद्रा नहीं है, [न च तृष्णा] तृषा नहीं है, [न एव क्षुधा] क्षुधा नहीं है, [तत्र एव च निर्वाणम् भवति] वहीं निर्वाण है (इन्द्रियादि रहित परमतत्त्व में ही निर्वाण है) ।

कर्म-रहित तथा विकल्प रहित परमतत्त्व

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि ।
णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥181॥
रे कर्म नहिं नोकर्म, चिंता, आर्तरौद्र जहाँ नहीं ।
है धर्म-शुक्ल सुध्यान नहिं, निर्वाण जानो रे वहीं ॥१८१॥
अन्वयार्थ : [न अपि कर्म नोकर्म] जहाँ कर्म और नोकर्म नहीं है, [न अपि चिन्ता] चिन्ता नहीं है, [न एव आर्तरौद्रे] आर्त और रौद्र ध्यान नहीं हैं, [न अपि धर्मशुक्लध्याने] धर्म और शुक्ल ध्यान नहीं हैं, [तत्र एव च निर्वाणम् भवति] वहीं निर्वाण है (अर्थात् कर्मादिरहित परमतत्त्वमें ही निर्वाण है) ।

सिद्ध के स्वभावगुण

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं ।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥182॥
दृग्-ज्ञान केवल, सौख्य केवल और केवल वीर्यता ।
होते उन्हें सप्रदेशता, अस्तित्व, मूर्तिविहीनता ॥१८२॥
अन्वयार्थ : [केवलज्ञानं] (सिद्ध भगवान को) केवलज्ञान, [केवलदृष्टिः] केवलदर्शन, [केवलसौख्यं च] केवलसुख, [केवलं वीर्यम्]

केवलवीर्य, [अमूर्तत्वम्] अमूर्तत्व, [अस्तित्वं] अस्तित्व और [सप्रदेशत्वम्] सप्रदेशत्व [विद्यते] होते हैं ।

सिद्धि और सिद्ध के एकत्व का प्रतिपादन

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा ।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥183॥
निर्वाण ही तो सिद्ध है, है सिद्ध ही निर्वाण रे ।
हो कर्म से प्रविमुक्त आत्मा पहुँचता लोकान्त रे ॥१८३॥
अन्वयार्थ : [निर्वाणम् एव सिद्धाः] निर्वाण ही सिद्ध हैं और[सिद्धाः निर्वाणम्] सिद्ध वह निर्वाण है [इति समुद्दिष्टाः] ऐसा (शास्त्र में) कहा है । [कर्मविमुक्तः आत्मा] कर्मसे विमुक्त आत्मा [लोकाग्रपर्यन्तम्] लोकाग्र पर्यंत [गच्छति] जाता है ।

सिद्धक्षेत्र से ऊपर जीव-पुद्गलों के गमन का निषेध

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी ।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥184॥
जानो वहीं तक जीव-पुद्गलगति, जहाँ धर्मास्ति है ।
धर्मास्तिकाय-अभाव में आगे गमन की नास्ति है ॥१८४॥
अन्वयार्थ : [यावत् धर्मास्तिकः] जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहाँ तक [जीवानां पुद्गलानां] जीवों का और पुद्गलों का [गमनं] गमन [जानीहि] जान; [धर्मास्तिकायाभावे] धर्मास्तिकाय के अभाव में [तस्मात् परतः] उससे आगे [न गच्छंति] वे नहीं जाते ।

नियम शब्द का तथा उसके फल का उपसंहार

णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए ।
पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्हा ॥185॥
जिनदेव-प्रवचन-भक्तिबल से नियम, तत्फल में कहे ।
यदि हो कहीं, समयज्ञ पूर्वापर विरोध सुधारिये ॥१८५॥
अन्वयार्थ : [नियमः] नियम और [नियमस्य फलं] नियम का फल [प्रवचनस्य भक्त्या] प्रवचन की भक्ति से [निर्दिष्टम्] दर्शाये गये । [यदि] यदि (उसमें कुछ) [पूर्वापरविरोधः] पूर्वापर (आगे पीछे) विरोध हो तो [समयज्ञाः] समयज्ञ (आगमके ज्ञाता) [अपनीय] उसे दूर करके [पूरयंतु] पूर्ति करना ।

भव्य को शिक्षा

ईसाभावेण पुणो केई णिंदंति सुंदरं मग्गं ।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥186॥
जो कोइ सुन्दर मार्ग की निन्दा करे मात्सर्य में ।
सुनकर वचन उसके अभक्ति न कीजिये जिनमार्ग में ॥१८६॥
अन्वयार्थ : [पुनः] परन्तु [ईर्षाभावेन] ईर्षाभाव से[केचित्] कोई लोग [सुन्दरं मार्गम्] सुन्दर मार्ग को [निन्दन्ति] निन्दते हैं [तेषां वचनं] उनके वचन [श्रुत्वा] सुनकर [जिनमार्गे] जिनमार्ग के प्रति [अभक्तिं] अभक्ति [मा कुरुध्वम्] नहीं करना ।

उपसंहार

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं ।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ॥187॥
सब दोष पूर्वापर रहित उपदेश श्री जिनदेव का ।

मैं जान, अपनी भावना हित नियमसार सुश्रुत रचा ॥१८७॥

अन्वयार्थ : [पूर्वापरदोषनिर्मुक्तम्] पूर्वापर दोष-रहित [जिनोपदेशं] जिनोपदेश को [ज्ञात्वा] जानकर [मया] मैंने [निजभावनानिमित्तं] निज-भावना निमित्त से [नियमसारनामश्रुतम्] नियमसार नाम का शास्त्र [कृतम्] किया है ।